ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

जैनं जयतु शासनम्

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के जिनशासन का
स्वरूप दर्शानेवाले आध्यात्मिक प्रवचन

सङ्कलन एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशन सहयोग :
स्व० श्रीमती शकुन्तलादेवी जवाहरलाल जैन
(फिरोजाबादवाले) जयपुर

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
शुक्रवार, 03 फरवरी 2010 (सप्तम वर्षगाँठ महोत्सव)
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ISBN NO. : 978-81-906776-5-3

न्यौछावर राशि : 15.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

(द्वितीयावृत्ति)

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके, श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभवप्रधान अध्यात्मशासन को जीवन्त रखनेवाले, **आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ताकर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तद्‌नुसार **'जैनं जयतु शासनम्'** नामक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के सङ्कलन का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए, कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अतिभक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्मदृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव–गुरु के परमभक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवी, भावश्रुतलब्धि के धनी, सतत ज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह

सम्यक् अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम व्याख्यानकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग -भक्ति के रङ्ग से रङ्गा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

यह परम पुनीत प्रवचन, स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षुजीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार अध्यात्म तत्वविज्ञान के गहन रहस्य, अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्मरुचि जागृत करके, पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत हैं। जिनशासन का स्वरूप समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ रागरहित वीतराग परिणतिरूप जिनशासन का शंखनाद करनेवाले इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों के समस्त प्रयोजनभूत तत्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानो श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्व की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाला परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। परम पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों

का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदने के लिए अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायुवाले मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है; उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं।

इन प्रवचनों का प्रकाशन पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में सोनगढ़ ट्रस्ट द्वारा आत्मधर्म में हो चुका है। साथ ही इस विषय से सम्बन्धित समयसार गाथा-15, नियमसार कलश-76, एवं प्रवचन रत्नाकर भाग - 1 से 11 तक में समागत जिनशासन का स्वरूप एवं महिमा सम्बन्धी वचनामृतों का सङ्कलन किया गया है। इन्हीं प्रवचनों को भाषा इत्यादि की दृष्टि से पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँ वाले) ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** द्वारा सम्पादित किया गया है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में **स्व० श्रीमती शकुन्तलादेवी जवाहरलाल जैन (फिरोजाबादवाले), जयपुर** द्वारा प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अन्त में यही भावना है कि मुमुक्षु अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, उग्र पुरुषार्थ से, इनमें कथित भावों को सम्पूर्ण रीति से हृदय में उतारकर निज शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

दिनाङ्क, 01 फरवरी 2010 **पवन जैन**
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन **'जैनं जयतु शासनम्'** सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में शुभाशुभभाव रहित वीतराग परिणतिरूप जिनशासन का स्वरूप एवं महिमा दर्शाकर अनन्त उपकार किया है। सामान्यत: जन सामान्य में यह धारणा प्रचलित है कि जैनधर्म तो क्रियाकाण्ड प्रधान है अथवा मात्र पूजा-दया-दान-व्रत-भक्ति इत्यादि शुभ अनुष्ठान ही जैनधर्म है, जबकि वास्तविकता इससे भिन्न ही है। वस्तुत: जिनधर्म में पूजा-दया-दान आदि मन्द-कषायरूप शुभ अनुष्ठानों को सत्कर्म कहा गया है और मोह-क्षोभ से रहित आत्मा के साम्यभावरूप वीतरागी परिणति अर्थात् आत्मस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होनेवाले वीतराग परिणति को ही जिनधर्म अथवा जैनधर्म कहा गया है। इन सभी तथ्यों का पूज्य गुरुदेवश्री ने अत्यन्त भाववाही शैली में सरस स्पष्टीकरण किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भावपाहुड़ गाथा 76 से 83; श्रीसमयसार परमागम गाथा-15; श्रीनियमसार कलश-76 के प्रवचनों का सङ्कलित सङ्कलन किया गया है। साथ ही परमागम समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सङ्कलन प्रवचन रत्नाकर भाग-1 से 11 तक में समागत जिनशासन, जिनधर्म सम्बन्धित वचनामृतों को भी समायोजित

किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सङ्कलन जिनशासन का स्वरूप एवं महिमा दर्शाने के लिये एक समर्थ ग्रन्थ बन गया है।

इन प्रवचनों के सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

- सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।
- लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।
- भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित श्री कैलाशचन्दजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर, मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य का अवसर प्रदान करने हेतु ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के प्राण श्री पवन जैन एवं पण्डित अशोककुमार लुहाड़िया के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थीजन गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों - इस पावन भावना के साथ।

दिनाङ्क, 01 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

देवेन्द्रकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

जैनशासन का उपदेश	1
शुद्धभाव से ही जिनशासन की शोभा	14
सम्यग्दृष्टि को मुनिदशा की भावना	33
वीतरागी सन्तों की अमृतवाणी	46
शुद्धात्मा के अनुभव में जिनशासन	59
भव के नाश की निःशङ्कता ही धर्म	68
जिनशासन का रहस्य	76
सर्वज्ञ की आज्ञा... सन्तों का आदेश	88
आत्मानुभूति ही जिनशासन	96
जिनधर्म जयवन्त वर्तता है	115
जिनशासन, जिनधर्म, जैनधर्म	121

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

जैनं जयतु शासनम्

प्रवचन - 1

जैनशासन का उपदेश

हे जीव! तू अपने श्रेय के लिए सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव को अङ्गीकार कर - ऐसा जिनशासन में भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है और उस शुद्धभाव की प्राप्ति जैनशासन में ही है; उसी से जैनशासन की महिमा है। इसके अतिरिक्त राग, वह जैनधर्म नहीं है और उसके द्वारा जैनशासन की महिमा नहीं है।

देखो, यह जैनशासन का उपदेश!

अरे जीव! तेरे आत्मा में प्रभुता उछलती है.... और तेरी पामरता नष्ट हो जाए - ऐसी अद्भुत बात इस जैनशासन में सन्तों ने बतलायी है। इसलिए हे भाई! एक बार अपनी रागबुद्धि छोड़कर यह बात समझ! इसे समझने में ही तेरा हित है।

[श्रीभावप्राभृत, गाथा 76 से 78 पर प्रवचन]

भावों के भेद एवं जिनशासन का महत्त्व कहते हैं –

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव पायव्वं।
असुहं च अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ 76 ॥
सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ 77 ॥
पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ 78 ॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः।
अशुभश्च आर्त्तरौद्रं शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥ 76 ॥
शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि सः च ज्ञातव्यः।
इति जिनवरैः भणितं यः श्रेयान् तं समाचर ॥ 77 ॥
प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः।
आप्नोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः ॥ 78 ॥

शुभ अशुभ एवं शुद्ध इस विधि भाव तीन प्रकार के।
रौद्रार्त तो हैं अशुभ किन्तु शुभ धरममय ध्यान है ॥ 76 ॥
निज आत्मा का आत्मा में रमण शुद्धस्वभाव है।
जो श्रेष्ठ है वह आचरो जिनदेव का आदेश यह ॥ 77 ॥
गल गये जिसके मान मिथ्या मोह वह समचित्त ही।
त्रिभुवन में सार ऐसे रत्नत्रय को प्राप्त हो ॥ 78 ॥

अर्थात् जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है – 1. शुभ,

2. अशुभ और 3. शुद्ध। आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है।

शुद्ध है वह अपना शुद्धस्वभाव अपने ही में है, इस प्रकार जिनवरदेव ने कहा है, यह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो, उसको अङ्गीकार करो।

यह जीव '**प्रगलितमानकषायः**' अर्थात् जिसका मानकषाय प्रकर्षता से गल गया है, किसी परद्रव्य से अहङ्काररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्व का उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है; इसलिए '**समचित्त**' है, परद्रव्य में ममकाररूप मिथ्यात्व और इष्ट–अनिष्ट बुद्धिरूप राग–द्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है।

भावार्थ : भगवान ने भाव तीन प्रकार के कहे हैं – 1. शुभ, 2. अशुभ और 3. शुद्ध। अशुभ तो आर्त्त व रौद्रध्यान हैं, वे तो अति मलिन हैं, त्याज्य ही हैं। धर्मध्यान शुभ है, इस प्रकार यह कथञ्चित् उपादेय है, इससे मन्दकषायरूप विशुद्धभाव की प्राप्ति है। शुद्धभाव है, वह सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप ही है। इस प्रकार हेय, उपादेय जानकर त्याग और ग्रहण करना चाहिए; इसलिए ऐसा कहा है कि जो कल्याणकारी हो वह अङ्गीकार करना, यह जिनदेव का उपदेश है।

मिथ्यात्वभाव और कषायभाव का स्वरूप अन्य मतों में यथार्थ नहीं है। यह कथन इस वीतरागरूप जिनमत में ही है; इसलिए यह जीव मिथ्यात्व–कषाय के अभावरूप तीनलोक में सार मोक्षमार्ग, जिनमत के सेवन ही से पाता है, अन्यत्र नहीं है।

***

इस 'भावप्राभृत' में शुद्धभाव की प्रधानता है अर्थात् शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है – ऐसा बतलाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्ररूप जो वीतरागी शुद्धभाव है, वही मोक्ष का कारण होने से उपादेय है; इसके अतिरिक्त शुभ या अशुभराग, वह सचमुच उपादेय नहीं है।

मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शुद्धभाव की प्राप्ति, जैनशासन में ही है और उसी से जैनशासन की महिमा है। मोह अथवा राग-द्वेष, वह जैनधर्म नहीं है किन्तु मोह और राग-द्वेष से रहित – ऐसा वीतरागी शुद्धभाव ही जैनधर्म है।

यह भावप्राभृत है। कौन-सा भाव उपादेय अथवा मोक्ष का कारण है? यह यहाँ बतलाना है। भावों के तीन प्रकार होते हैं – शुभ, अशुभ और शुद्ध। उनमें शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है; अशुभभाव, पापबन्ध का कारण है और शुद्धभाव तो शुद्धस्वभाव ही है; इसलिए वह मोक्ष का कारण है। इस प्रकार जिनेश्वरदेव ने तीन भाव कहे हैं, उन्हें जानकर हे जीव! जो श्रेयस्कर हो, उसका तू आचरण कर।

इस भावप्राभृत में शुद्धभाव की प्रधानता है। यह शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है; इसलिए यही उपादेय है अर्थात् शुद्धभाव ही सच्चा धर्म है। साधकदशा में शुद्धभाव के साथ शुभभाव भी होता है किन्तु वह शुभराग, धर्म नहीं है; उसे धर्म कहना उपचारमात्र है। यद्यपि अशुभभाव की अपेक्षा से शुभभाव को भी व्यवहार से उपादेय कहा जाता है किन्तु परमार्थ से तो वह हेय ही है।

आत्मा, सम्यग्ज्ञानमय चैतन्यसूर्य है, उसके प्रकाश में शुभ

-अशुभभाव ज्ञात होते हैं किन्तु वे चैतन्यसूर्य के साथ एकमेक नहीं हैं, वे भाव चेतन्यसूर्य से भिन्न है।

रागरहित शुद्धभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव, वह आत्मा का स्वभाव है; उसकी चैतन्य के साथ एकता है। इस प्रकार शुद्ध तथा शुभ-अशुभभावों को जानकर, उनमें से कल्याणकारी भाव को अङ्गीकार करने का जिनदेव का उपदेश है।

प्रश्न – कौन-सा भाव, कल्याणकारी है?

उत्तर – शुद्धभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वीतरागभाव ही वास्तव में जीव को कल्याणकारी है; इसलिए वही उपादेय है। अतः हे जीव! तू उन सम्यग्दर्शनादिक शुद्धभावों को सम्यक् प्रकार से अङ्गीकार कर – ऐसा भगवान का उपदेश है।

- हिंसादि अशुभभाव से तो पाप का बन्धन होता है और उसका फल दुर्गति में भ्रमण होता है तो उसे श्रेयकारी/कल्याणकारी कैसे कहा जा सकता है?

- इसी प्रकार दया अथवा व्रतादि के शुभभाव से पुण्य का बन्धन होता है और उसके फल में स्वर्गादिक के भव मिलते हैं किन्तु उसके द्वारा भवभ्रमण का नाश नहीं होता; अतः उस शुभभाव को भी श्रेयकारी कैसे कहा जाएगा?

- शुभ और अशुभ, दोनों से पार चिदानन्द आत्मस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा जीव ने पहले कभी एक क्षण भी नहीं की है। यदि एक बार भी सम्यक्श्रद्धा करे तो अल्प काल में मुक्ति हो जाए। इस प्रकार सम्यक्श्रद्धा-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, वह शुद्धभाव है

और उसका फल परमश्रेयरूप मोक्ष है; इसलिए वह शुद्धभाव ही जीव को सचमुच श्रेयकारी है।

– ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने श्रेय के लिए सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को अङ्गीकार कर, ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

शुद्धरत्नत्रय से ही जिनशासन की महिमा

जीव को श्रेय के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव अङ्गीकार करने को कहा। अब कहते हैं कि उस रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति जैनशासन में ही होती है। यह जिनशासन की महिमा है कि जीव को तीन भुवन में पूज्य ऐसी बोधि की प्राप्ति जिनशासन में ही होती है। बोधि अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग, वह तीन लोक में पूज्य है और उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है। उसकी प्राप्ति कैसे जीव को होती है ? एक तो जिसका मिथ्यात्वरूप मोह नष्ट हो गया है तथा परद्रव्य में अहङ्कार-ममकाररूप मान-कषाय जिसका गल गया है; इस प्रकार मिथ्यात्व तथा पर में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि के नाश से जिसका समभावी चित्त हुआ है – ऐसा जीव जिनशासन में अपूर्व बोधि को प्राप्त होता है।

देखो, यह जिनशासन की महिमा! अन्य प्रकार से जिनशासन का माहात्म्य नहीं है किन्तु बोधि अर्थात शुद्धरत्नत्रयरूप भाव की प्राप्ति जैनशासन में ही होती है; उस शुद्ध रत्नत्रय के भाव द्वारा ही जैनशासन की महिमा है अर्थात् वही वास्तव में जैनशासन है। राग, वह जैनशासन नहीं है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो, श्रेय हो, हित हो – ऐसे शुद्धभाव द्वारा ही जैनशासन की प्रधानता है; पुण्य द्वारा उसकी प्रधानता नहीं है।

अहो! तीन भुवन में सारभूत ऐसी जो रत्नत्रयरूप बोधि, उसे जीव, जैनशासन में ही प्राप्त करता है; उसके सिवा अन्यत्र तो बोधि/मोक्षमार्ग है ही नहीं। जैनशासन में ही यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि का उपदेश है और उसकी प्राप्ति भी जैनशासन में ही है। 'जैनशासन' कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु आत्मा के शुद्धपरिणाम ही जैनशासन है।

देखो, एक और स्वद्रव्य, दूसरी ओर परद्रव्य; उसमें स्वद्रव्याश्रित परिणमन, मोक्ष का कारण है और परद्रव्याश्रित परिणमन, संसार का कारण है।

जगत में स्वद्रव्य तथा परद्रव्य एक साथ हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही स्वद्रव्य है और उसके अतिरिक्त शरीरादि सब परद्रव्य हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य में ही अहंबुद्धि अर्थात् 'यही मैं हूँ' – ऐसी मान्यता, वह यथार्थ श्रद्धा है और चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर शरीरादिक परद्रव्य में अहं-ममबुद्धि, वह मिथ्याश्रद्धा है अर्थात् परवस्तु को अपनी मानना, वह विपरीत श्रद्धा है।

देखो! जगत् में स्वद्रव्य है और परद्रव्य भी हैं; जीव भी है और अजीव भी है; स्वद्रव्य का भान करके, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले जीव भी हैं तथा स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य में अहं-मम बुद्धिरूप भ्रम से संसार में भटकनेवाले जीव भी हैं। वह भ्रमण, क्षणिक पर्याय में हैं। चैतन्य की यथार्थ पहिचान द्वारा वह भ्रमण दूर करने से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्षदशा प्रगट होती है और आत्मा अखण्डरूप से नित्य/स्थिर रहता है। इसमें सातों

तत्त्व आ जाते हैं। ऐसी यथार्थ तत्त्वों की बात जैनशासन में ही है और उसी में बोधि की प्राप्ति हो सकती है; इसके अतिरिक्त कहीं बोधि का यथार्थ उपदेश या उसकी प्राप्ति नहीं है।

कोई या तो अकेले जीव को ही माने और अजीव का अस्तित्त्व जगत् में बिलकुल न माने; अथवा वस्तु को सर्वथा क्षणिक/परिणमनशील ही माने और उसकी ध्रुवता को स्वीकार न करे; अथवा वस्तु को सर्वथा ध्रुव ही माने और उसकी पर्यायों का परिणमन स्वीकार न करे; अथवा राग या निमित्तों के आश्रय से जीव का हित होना माने – तो वे सब अन्यमत हैं, उनमें कहीं भी यथार्थ बोधि की, मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। जैनशासन में ही यथार्थ बोधि की प्राप्ति होती है। तीन भुवन में सारभूत रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग तो जैनशासन के सेवन से ही प्राप्त होता है – ऐसा उसका माहात्म्य है।

कैसा जीव, बोधि प्राप्त करता है ?

जैनशासन में बोधि प्राप्त करनेवाला जीव कैसा होता है ? जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वद्रव्य में ही अहंबुद्धि हुई है और परद्रव्य में से अहंबुद्धि छूट गयी है; राग में भी लाभ की मान्यता छूट गई है – ऐसा जीव, जैनशासन में बोधि प्राप्त करता है। जिसे राग की रुचि है, उसे परद्रव्य की ही प्रीति है, उसे जैनशासन की खबर नहीं है। जैनशासन तो यह कहता है कि शुद्धभाव ही हितकर है और वही उपादेय है। राग, वह जैनशासन नहीं है, वह तो विकार है; इसलिए हेय है।

एक ओर शुद्धभाव और दूसरी ओर उससे विरुद्ध विकार; उनमें से जिसे शुद्धभाव की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं है और जिसे विकार की रुचि है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है। ऐसी बात

जैनशासन में ही है; इसलिए जिसे जैनशासन की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं है और जिसे राग की रुचि है, उसे जैनशासन की रुचि नहीं है। जैनशासन, राग से धर्म नहीं मानता। मन्दराग से परमार्थ धर्म की प्राप्ति होती है – यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। श्वेताम्बरमत भी मिथ्यादृष्टि को राग से (दान, दया से) धर्म होना मानता है, वह सचमुच जैनशासन नहीं है।

जगत् में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ हैं, अनन्तानन्त परमाणु हैं; उसमें प्रत्येक आत्मा स्वयं से परिपूर्ण एवं पर से भिन्न है। आत्मा की क्षणिक पर्याय में राग होता है, वह भी आत्मा का परमार्थ स्वभाव नहीं है। आत्मा का शुद्ध चिदानन्दस्वभाव तो राग से भी पार है – ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव की समीपता होने पर, स्वभाव की निःशङ्क दृढ़ता होने से, राग और पर के प्रति अहङ्कार-ममकारबुद्धि छूट जाए, उसका नाम निरभिमानता है और ऐसा निरभिमानी जीव, रत्नत्रय बोधि को प्राप्त होता है। देखो ! यह साधारण लौकिक निरभिमानता की बात नहीं है; असाधारण निरभिमानता की बात है।

ज्ञानस्वभाव के भान बिना सभा में सबसे पीछे बैठे या किसी के पैरों के निकट बैठ जाए अथवा सबकी विनय करके माने कि अब इस विनय से मेरा कल्याण हो जाएगा तो यह कही निरभिमानता नहीं है; यह तो अविवेक और मूढ़ता है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा में 'अहं' होने से पर में से 'अहं-मम' छूट जाए, उसी को मिथ्यात्वसहित मानादि कषाएँ गल गयी हैं, वही निरभिमानी है और उसी को बोधि की प्राप्ति होती है।

अपने स्वरूप को भूलकर पर में अपनत्व की मान्यता ही

मिथ्यात्व है – ऐसे मिथ्यात्व के कारण जीव, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अनादि से स्वरूप की असावधानी और पर में सावधानी, वह मिथ्यात्व था; वह भी जीव में एक अवस्था थी। अब, जैनशासन का उपदेश प्राप्त करके स्वभाव की सावधानी द्वारा उस विपरीतश्रद्धा का नाश करके, सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–रमणता प्रगट की – ऐसा सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–रमणतारूप मोक्षमार्ग, जैनशासन में ही होता है – ऐसा जैनशासन का माहात्म्य है।

अहो! जिनशासन की परम महिमा और कुन्दकुन्ददेव की वाणी

अहो! यह जैनशासन की परम महिमा है कि वह प्रत्येक आत्मा का ज्ञाता–दृष्टा परिपूर्ण स्वभाव बतलाता है और परद्रव्यों तथा परभावों में से अहंबुद्धि छुड़ाता है। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है; परद्रव्य में इष्ट–अनिष्टपना करने का उसका स्वभाव नहीं है – ऐसे स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–रमणता करने से ही सच्ची समता होती है। परद्रव्यों/ज्ञेयों में भी यह इष्ट और यह अनिष्ट – ऐसा स्वभाव नहीं है। पर में कहीं भी इष्ट–अनिष्टपने की कल्पना तो यह जीव व्यर्थ ही कर लेता है। 'मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ' – यह बात यदि सचमुच समझ ले तो ज्ञाता–दृष्टा होकर समचित्त–वीतरागचित्त हो जाए। अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्य भगवान की अलौकिक वाणी है। यह बात समझ ले तो अवश्य ही बोधि की प्राप्ति हो जाए। इसे समझते ही अन्तर में ज्ञानस्वभाव की सावधानी से समचित्त अर्थात् वीतरागभाव हो जाता है – यही जैनशासन है।

कोई कहे कि 'जल में रहे मगर सों बैर!' – यह कैसे हो सकता है? उसी प्रकार इस जगत् में अनन्त जीव–अजीव द्रव्यों का समुद्र भरा है, उस समुद्र में रहना और परद्रव्यों से बैर रखना – यह कैसे हो सकता है? उससे कहते हैं कि हे भाई! परद्रव्य तो ज्ञेय हैं, उनके साथ ज्ञाता–ज्ञेयपने का ही सम्बन्ध है किन्तु वे बैरी होकर इस जीव का अहित करें – ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। जगत् में कोई द्रव्य किसी द्रव्य का बैरी है ही नहीं। परद्रव्य को इष्ट–अनिष्ट मानना, यह भ्रमबुद्धि है।

जैनशासन कहता है कि हे भाई! तू तो ज्ञान है, तेरे ज्ञान में परद्रव्य कुछ बिगाड़ता नही हैं और तेरे ज्ञान में शुभ–अशुभराग करने का भी स्वभाव नहीं है; तेरा आत्मा तो चैतन्यप्रकाशी ज्ञानसूर्य है, उसका बहुमान कर और राग का बहुमान छोड़। शुभराग का बहुमान भी छोड़ और अपने शुद्धस्वभाव का बहुमान कर। तुझे सचमुच जैनशासन का सेवन करना हो तो उससे विरुद्ध ऐसे राग का सेवन छोड़। जैनशासन में राग को धर्म नहीं कहा गया है; वीतरागभाव को ही धर्म कहा है। ऐसे जैनशासन के सेवन से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, यह उसकी महिमा है।

देखो........ यह जैनशासन का उपदेश!

भाई! तेरे अन्तर में पूर्ण परमात्मा विराजमान है, तेरे अन्तर में भगवान परमेश्वर विराज रहा है; उसे देख! अन्तर्मुख होकर उसका अवलोकन कर! अन्तर में अपने आत्मा को ऐसे शुद्धभाव से देखना –अनुभव करना ही जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में भी आचार्य भगवान ने यही कहा है कि जो इस भगवान आत्मा की अनुभूति है, वही जिनशाासन की अनुभूति है।

अहो जीवों! स्वभाव की सावधानी करो.... स्वोन्मुख होओ.... अन्तर में अपने शुद्ध आत्मा को देखो! शुद्ध आत्मा को देखते ही अनादि कालीन मिथ्यात्वरूप मोह का नाश हो जाएगा और अपूर्व आनन्द तथा बोध तरङ्गसहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। इसलिए हे जीवों! अन्तरोन्मुख होओ.... आत्मा के शुद्धस्वभाव का लक्ष्य एवं पक्ष करके, उसका अनुभव करो।

मोक्ष की प्राप्ति का ऐसा कथन जिनशासन में ही है। मिथ्यात्व तथा कषाय की व्याख्या भी अन्यमत में यथार्थ नहीं है; जैनमत में ही आत्मा के वीतरागी स्वभाव का यथार्थ स्वरूप बतलाया है तथा उससे विरुद्ध मिथ्यात्व क्या? कषाय क्या? – यह बतलाकर उनके नाश का यथार्थ उपाय भी जैनशासन में ही बतलाया है; अन्यमत में कहीं उस बात का कथन भी नहीं है और वैसा वीतरागभाव भी उनमें नहीं होता। इस प्रकार जैनशासन में ही यथार्थ बोधिरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

जिससे आत्मा का हित हो – ऐसा जैनशासन का उपदेश है। पर द्रव्योन्मुखता से लाभ होता है – यह कथन जैनशासन का है ही नहीं। स्वद्रव्योन्मुखता से ही लाभ होता है और स्वद्रव्योन्मुखता ही जैनशासन है। धर्मी को साधकदशा में राग भी होता है किन्तु वह जानता है कि यह राग, धर्म नहीं है; धर्म तो मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही वीतरागभावरूप है।

वीतराग सर्वज्ञ जिनदेव द्वारा कथित जैनशासन तो ऐसा बतलाता है कि हे जीव! परद्रव्य से, उस ओर की उन्मुखता से कभी किसी

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अशुभभाव भी आ जाता है, तो क्या वह धर्म है? नहीं; बस! जिस प्रकार सम्यक्त्वी को अशुभभाव होने पर भी वह धर्म नहीं है; उसी प्रकार सम्यक्त्वी को शुभभाव भी होता है, तथापि वह धर्म नहीं है; धर्म तो उस अशुभ तथा शुभ दोनों से पार है अर्थात् रागरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही धर्म है; वीतरागी शुद्धभाव ही जैनधर्म है।

ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए कि सम्यक्त्वी को शुभराग होता है; इसलिए वे उस शुभराग को धर्म मानते होंगे! सम्यक्त्वी की दृष्टि तो पलट गयी.... उसका परिणमन अन्तर्स्वभावोन्मुख हो गया है। यद्यपि अस्थिरता के कारण राग होता है, तथापि उसकी दृष्टि का ध्येय बदल गया है; दृष्टि का ध्येय तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही है। मैं तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव ही हूँ – धर्मी की ऐसी दृष्टि, राग के समय भी नहीं छूटती। यद्यपि गृहस्थपने में सम्यक्त्वी को विषय-कषाय अभी सर्वथा छूट नहीं गये हैं किन्तु उनका ध्येय नहीं रहा है, ध्येय बदल गया है; शुद्ध आत्मा ही उसका ध्येय है। अनादि काल से पर को और राग को ही ध्येय माना था, वह बदलकर अब शुद्ध आत्मा को ही ध्येय बनाया है और ऐसा ध्येय जैनशासन ही बतलाता है; इसलिए जैनशासन के सेवन से ही यथार्थ बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

अरे जीव! तेरे आत्मा में प्रभुता उछलती है.... और तेरी पामरता नष्ट हो जाए – ऐसी अद्‌भुत बात इस जैनशासन में सन्तों ने बतलायी है। इसलिए हे भाई! एक बार अपनी रागबुद्धि छोड़ और यह बात समझ! इसे समझने से ही तेरा हित होगा। ●●

प्रवचन - 2

शुद्धभाव से ही जिनशासन की शोभा

जैनशासन का उपदेश ऐसा कहता है कि अरे चैतन्य! तू स्वसन्मुख हो.... स्वसन्मुख होना ही जागृति का उपाय है.... स्वसन्मुखता में ही तेरा हित है, उसी में मोक्षमार्ग है। भाई रे! आत्मा क्या है! उसके भान बिना तेरी जागृति कहाँ से होगी ?

- तुझे आत्मा की भावना है या कर्मबन्ध की ?

- तुझे छुटकारे की भावना है या बन्धन की ?

- तुझे मोक्ष की भावना है या संसार की ?

- तुझे शुद्धता की भावना है या विकार की ?

हे भाई! यदि तुझे छुटकारे की भावना हो, मोक्ष की भावना हो, शुद्धता की भावना हो तो जैनशासन में कहे हुए सम्यक्त्वादि शुद्धभावों का सेवन कर और रागादि का सेवन छोड़! धर्मी को राग की भावना नहीं होती; उसे तो शुद्ध आत्मा की ही भावना होती है। *[श्रीभावप्राभृत, गाथा 79 पर प्रवचन]*

अब कहते हैं कि जिनशासन में ऐसा मुनि ही तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधता है -

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ 79 ॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा।
तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥ 79 ॥

जो श्रमण विषयों से विरत वे सोलहकारणभावना।
भा तीर्थंकर नामक प्रकृति को बाँधते अतिशीघ्र ही ॥

अर्थात् जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयों से विरक्त है - ऐसा श्रमण, अर्थात् मुनि है, वह सोलहकारणभावना को भाकर 'तीर्थङ्कर' नामकर्म प्रकृति को थोड़े ही समय में बाँध लेता है।

भावार्थ यह भाव का माहात्म्य है, (सर्वज्ञ-वीतराग कथित तत्वज्ञानसहित, स्वसन्मुखतासहित) विषयों से विरक्तभाव होकर सोलहकारण भावना भावे तो अचिन्त्य है महिमा जिसकी - ऐसी तीन लोक से पूज्य 'तीर्थङ्कर' नाम प्रकृति को बाँधता है और उसको भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है। ये सोलहकारण भावना के नाम हैं - 1. दर्शनविशुद्धि, 2. विनयसम्पन्नता, 3. शीलव्रतेष्वनतिचार, 4. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, 5. संवेग, 6. शक्तितस्त्याग, 7. शक्तितस्तप, 8.साधुसमाधि, 9. वैयावृत्त्यकरण, 10. अर्हद्भक्ति, 11. आचार्य-भक्ति, 12. वहुश्रुतभक्ति, 13. प्रवचनभक्ति, 14. आवश्यका-परिहाणि, 15. सन्मार्गप्रभावना, 16. प्रवचनवात्सल्य, इस प्रकार सोलह भावनाएँ हैं, इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए। इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और पन्द्रह भावना का व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं और यह हो तो पन्द्रह भावना का कार्य यही कर ले, इस प्रकार जानना चाहिए।

सम्यक्त्वी को ही सोलहकारणभावना और तीर्थङ्करप्रकृति

अब कहते हैं कि उत्कृष्ट पुण्यबन्धरूप तीर्थङ्करप्रकृति भी जिनशासन में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही बँधती है; मिथ्यादृष्टि को वैसे पुण्य भी नहीं होते। अहो! धर्म की बात तो क्या करें! किन्तु जिससे तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो – ऐसे शुभभाव भी सम्यग्दृष्टि को ही आते हैं; मिथ्यादृष्टि को वैसे भाव ही नहीं होते।

अहो! तीर्थङ्कर के वैभव की क्या बात! उनके आत्मा का चैतन्यवैभव तो अचिन्त्य होता ही है, बाह्य पुण्यवैभव भी लोकोत्तर होता है। सौ इन्द्र जिनके चरणों की पूजा करते हैं, उनके पुण्य की भी क्या बात! सौ इन्द्रों के पुण्य की अपेक्षा भी जिनका पुण्य उत्तम है – ऐसे तीर्थङ्करदेव और उनके दिव्य समवसरण को जो प्रत्यक्ष देखे, उसी को खबर पड़ सकती है! लेकिन यहाँ तो यह बतलाना है कि ऐसा भाव, सम्यग्दृष्टि को ही आता है। सम्यग्दर्शनसहित भूमिका में ही तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है; अन्य भूमिका में नहीं। चौथे गुणस्थान में भी सम्यक्त्वी को, जिसके वैसी योग्यता हो उसे, तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है किन्तु यहाँ उत्कृष्ट बात बतलाने के लिए इस गाथा में मुनि की बात ली है।

तीर्थङ्कर नामकर्मप्रकृति के आस्रव के कारणभूत सोलहकारण –भावनाओं का वर्णन किया है; उनमें सबसे पहली भावना, दर्शनविशुद्धि है। वह दर्शनविशुद्धि मुख्य है और वह सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बिना कोई जीव ऐसा माने कि मैं सोलहकारणभावना भाकर तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध कर लूँ तो इस प्रकार बन्ध नहीं होता। जिसे तीर्थङ्करप्रकृति बाँधने की भावना है,

उसे आस्रव की भावना है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि को कभी तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध नहीं होता।

यहाँ वास्तव में तीर्थङ्कर कर्मप्रकृति की महिमा नहीं बतलाना है किन्तु सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाना है। किसी सम्यग्दृष्टि जीव को सोलहकारणभावनाओं में से सम्यग्दर्शन की शुद्धि ही हो अर्थात् दर्शनविशुद्धिभावना ही हो और दूसरे पन्द्रह कारण विशेषरूप से न हों, तथापि उसे तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु दर्शनविशुद्धि ही न हो तो ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टियों में भी जिस द्रव्य में उस प्रकार की अर्थात् तीर्थङ्कर होने की योग्यता हो, उसी को उस प्रकृति का बन्ध होता है; सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं होता। अमुक जीवद्रव्य में ही उस प्रकार की विशिष्ट योग्यता होती है, उसी को उस प्रकृति का बन्ध होता है किन्तु जिसे उस अचिन्त्य तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है, उसे सम्यग्दर्शनसहित की भूमिका में ही वह होता है; मिथ्यादृष्टि की भूमिका में तो उस प्रकृति का बन्ध होता ही नहीं – ऐसी सम्यग्दृष्टि के भाव की महिमा है।

तीन लोक में उत्तम और सारभूत ऐसी अपूर्व बोधिरूप मोक्षमार्ग, सम्यग्दृष्टि को ही होता है। उसी प्रकार तीन लोक में उत्तम पुण्यरूप ऐसी तीर्थङ्करप्रकृति भी सम्यग्दृष्टि को ही होती है। इस प्रकार यहाँ सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाना है। सम्यक्त्वी को कहीं कर्म के आस्रव की अर्थात् तीर्थङ्करप्रकृति की भी भावना नहीं है; भावना तो शुद्धता की ही है। सोलहकारणभावना है, उसमें भी कहीं उस प्रकार

के राग की या आस्रव की भावना नहीं है; स्वभाव की पूर्णता की ही भावना है। उस भावना में बीच में उस प्रकार की विकल्पों से तीर्थङ्करप्रकृति आदि पुण्य का बन्ध होता है।

तीर्थङ्करप्रकृति बँधने का प्रारम्भ सम्यक्त्वी को मनुष्यभव में ही होता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के सान्निध्य में ही होता है। महावीर भगवान के समय इस भरतक्षेत्र में श्रेणिकराजा ने सम्यग्दर्शनसहित भूमिका में तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध किया है और इस समय नरक में होने पर भी वहाँ उन्हें प्रतिक्षण तीर्थङ्करप्रकृति के रजकणों का बन्ध हो रहा है। वहाँ से निकलकर वे इस भरतक्षेत्र में आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थङ्कर होंगे। उस भव में राग तोड़कर केवलज्ञान होने के पश्चात उसी तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आयेगा और उसके निमित्त से इन्द्र, अद्‌भुत समवसरण की रचना करेंगे तथा दिव्यध्वनि खिरेगी; जिसके निमित्त से अनेक जीव धर्म प्राप्त करेंगे। सम्यग्दर्शनसहित शुद्धभाव की भूमिका में ही ऐसा होता है; इसलिए यहाँ तो उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों की महिमा बतलाना है। उस शुद्धभाव की प्राप्ति जैनशासन की महिमा है।

जैनशासन का उपदेश यह कहता है कि अरे चैतन्य! तू स्वोन्मुख हो.... स्वसन्मुख हो! स्वसन्मुख होना ही जागृति का उपाय है, स्वसन्मुखता में ही तेरा हित है; उसी में मोक्षमार्ग है। भाई रे! आत्मा क्या है ? उसके भान बिना तेरी जागृति कहाँ से होगी ? तुझे आत्मा की भावना है या कर्म बन्धन की ? तुझे छुटकारे की भावना है या बन्धन की ? तुझे मोक्ष की भावना है या संसार की ? यदि तुझे छुटकारे की भावना हो तो जैनशासन में कहे हुए शुद्धभावों का सेवन कर और राग का सेवन छोड़!

धर्मी को बन्धन की भावना नहीं होती, उसे तो शुद्धात्मा की ही भावना होती है। आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव की ही उसे भावना है। वीतरागभाव ही जैनधर्म है; राग है, वह जैनधर्म नहीं है। जिसे राग की भावना है, उसे जैनधर्म का पता नहीं है। यह बात आचार्यदेव 83 वीं गाथा में एकदम स्पष्ट करेंगे।

यह भावप्राभृत की वचनिका हो रही है। इसमें आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, शुद्ध ज्ञानचेतना उसका स्वभाव है और पुण्य-पाप, वह अशुद्धभाव है, वह उसका स्वभाव नहीं है। जिसे ऐसे आत्मा की श्रद्धारूप शुद्धभाव की भूमिका हो, उसी को धर्म होता है; इसके अतिरिक्त धर्म नहीं होता। धर्म, वह रागरहित शुद्धभाव है और सम्यग्दर्शन उसकी भूमिका है। सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यर्थ है। सम्यग्दर्शनसहित की भूमिका में सोलह -कारणभावना का भाव आने पर किसी जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है किन्तु दर्शनविशुद्धि के बिना तो किसी जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं होता। दूसरी पन्द्रह भावनाएँ विशेषरूप से नहीं, तथापि अकेली दर्शनविशुद्धि उनका कार्य कर लेती है और वह दर्शनविशुद्धि, सम्यगदर्शन के बिना नहीं होती; इसलिए उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों का ही माहात्म्य है। जैनशासन में राग का माहात्म्य नहीं है किन्तु शुद्धभाव का ही माहात्म्य है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि तीर्थङ्करप्रकृति की अचिन्त्य महिमा है तथा तीर्थङ्कर भगवान, तीन लोक से पूज्य हैं किन्तु उस तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध किसे होता है ? जिसे दर्शनविशुद्धि हो और विरक्तभाव हो - ऐसे जीव को सोलहकारणभावना से वह प्रकृति बँधती है। वहाँ

भी जो राग है, वह कहीं धर्म नहीं है किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव हैं, वही धर्म है और उसी की यथार्थ महिमा है।

तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो, वह भी आस्रव-बन्ध है, और उसके कारणरूप स्वभाव है, वह भी विकार है; उसकी भावना ज्ञानी को नहीं है और अज्ञानी को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं होता।

धर्मी को आनन्दकन्द चैतन्यस्वभाव की ही भावना है। ऐसे धर्मी को बीच में राग से तीर्थङ्करप्रकृति बँध जाती है और केवलज्ञान होने के पश्चात् उसके फल में समवसरणादि का संयोग होता है। भगवान को कहीं समवसरण के प्रति राग या उपभोग का भाव नहीं है किन्तु आराधक पुण्य के फल में वैसा योग बन जाता है।

देखो! अभी तो तीर्थङ्कर भगवान माता के गर्भ में भी न आये हो, उससे छह महीने पूर्व ही देव आकर सुवर्णमयी नगरी की रचना और प्रतिदिन रत्नों की वृष्टि करते हैं। इन्द्र आकर माता-पिता का बहुमान करते हैं कि हे रत्नकुक्षिधारिणी माता! तेरी कुक्षि से तीन लोक के नाथ अवतरित होनेवाले हैं; इसलिए तू तीन लोक की माता है.... फिर भगवान का जन्म होने पर इन्द्र और देव आकर महा वैभव से मेरुगिरि पर जन्माभिषेक-महोत्सव करते हैं.... भगवान को वैराग्य होने पर जब वे दीक्षा ग्रहण करते हैं, उस समय भी इन्द्र और देव महा-महोत्सव करते हैं और केवलज्ञान होने पर इन्द्र, दैवीय समवसरण की रचना करके महोत्सव करते हैं।

भगवान के समवसरण की ऐसी शोभा होती है कि स्वयं इन्द्र भी उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं और कहते हैं कि अहो नाथ! यह तो आपके अचिन्त्य पुण्य का प्रताप है! प्रभो! हम में ऐसी रचना करने का सामर्थ्य नहीं है।

तीर्थङ्कर भगवान को ही पञ्च कल्याणक का योग होता है। पूर्व काल में सम्यग्दर्शनसहित साधकदशा में विशिष्ट पुण्यबन्ध हुआ, उसका वह फल है। दर्शनविशुद्धि के बिना किसी जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध नहीं होता; इसलिए सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों की महिमा है।

तीर्थङ्करप्रकृति के कारणरूप से सोलहकारणभावनाएँ कही हैं, उन सोलह भावनाओं में सबसे पहली दर्शनविशुद्धि है।

(1) दर्शनविशुद्धि

दर्शनविशुद्धि का अर्थ है - जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करे और निर्विकल्प आनन्दसहित आत्मा का अनुभव करके उसकी प्रतीति करे, वह सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शनपूर्वक ही दर्शनविशुद्धिभावना होती है। ऐसी दर्शनविशुद्धि की भूमिका में ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है किन्तु इतना विशेष समझना चाहिए कि वहाँ सम्यग्दर्शन की शुद्धि, स्वयं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उस सम्यग्दर्शन के साथ अमुक विकल्प उठने पर तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन तो संवर-निर्जरा का कारण है; वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ का दर्शनविशुद्धि आदि सम्बन्धी विकल्प, वह बन्ध का कारण है।

सोलह भावनाओं में यह प्रकार समझ लेना चाहिए कि जितने अंश में राग है, वहीं बन्ध का कारण है और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह तो मोक्ष का ही कारण है; वह बन्ध का कारण नहीं है; इसलिए ऐसे वीतरागी रत्नत्रय के शुद्धभाव को ही जिनशासन में धर्म कहा है और उसी से जिनशासन की महत्ता है।

(2) विनयसम्पन्नता

तीर्थङ्करप्रकृति के आस्रव की कारणभूत सोलह भावनाओं में दूसरी विनयसम्पन्नता है। सम्यक्त्वी को देव-गुरु-धर्म के प्रति, शास्त्र के प्रति, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रति तथा सम्यग्दर्शनादि धारक सन्तों के प्रति अत्यन्त विनय होती है, उनके प्रति अन्तरङ्ग अनुमोदना होती है। यहाँ सम्यग्दर्शनसहित के ऐसे भाव की बात है। सम्यग्दर्शन के बिना, मात्र विनय का शुभराग, वह कहीं तीर्थङ्करप्रकृति का कारण नहीं होता; वह तो साधारण पुण्यबन्ध का कारण है। धर्मी को देव-गुरु की तथा सम्यग्दर्शनादि की यथार्थ पहिचान होती ही है; इसलिए उसी के सच्ची विनय सम्पन्नता होती है; मिथ्यादृष्टि के सच्ची विनयसम्पन्नता नहीं होती। जिसे राग का आदर है, जो राग से धर्म मानता है, वह वास्तव में देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा की अविनय करता है।

(3) शीलव्रतों में अतिचाररहितपना

शीलव्रतों में अतिचाररहितपना भी सम्यगदर्शनसहित ही समझना। शीलव्रत का सच्चा भाव सम्यग्दर्शन के बाद की भूमिका में ही होता है, तथापि सम्यक्त्वी को उस शीलव्रत के राग का या उसके फल का बहुमान नहीं है; चिदानन्दस्वभाव का ही बहुमान है। अभी जिसे समयग्दर्शन ही नहीं है, उसे शील या व्रत कैसे ? और व्रत के बिना अतिचाररहितपने की बात कैसी ? सम्यग्दर्शन के पश्चात् निरतिचार व्रतादि के शुभराग द्वारा किसी जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो जाता है किन्तु सम्यग्दर्शनरहित जीव, व्रतादि करे, उसकी यहाँ बात नहीं है। सोलहकारणभावना में सम्यग्दर्शनरूपी शुद्धभाव की अखण्डता है, उस शुद्धभावसहित शुभराग ही तीर्थङ्करप्रकृति के

बन्ध का कारण होता है; शुद्धभावरहित, शुभ से वैसी उच्च पुण्यप्रकृति का बन्ध नहीं होता; इसलिए शुद्धभाव की महिमा है - ऐसा यहाँ बतलाना है।

(4) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग अर्थात् ज्ञान उपयोग की सूक्ष्मता; उनका अत्यन्त रस! सम्यग्दर्शनसहित बारम्बार निरन्तर श्रुत के पठन -पाठन में उपयोग को लगाये, ज्ञान के फल आदि का विचार करे, उसमें सम्यक्त्वी का ज्ञानउपयोग कहीं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु बारम्बार ज्ञान के विचार में रहने से उसके साथवाले शुभराग से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो जाता है।

यह निश्चयसहित व्यवहार की बात है; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यग्दर्शन के बिना शास्त्र पढ़े, उसकी यह बात नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना, मात्र शुभराग से जो पुण्य बँधता है, वह तो 'लौकिक पुण्य' है, वह तो साधारण है और सम्यक्त्वी के चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक के राग में जो पुण्यबन्ध होता है, वह अलौकिक पुण्य है; उस आराधकभावसहित पुण्य को श्रीमद्राजचन्दजी 'सत्पुण्य' कहते हैं। सम्यक्त्वी को ही सत्पुण्य होता है; तथापि उसे उस पुण्य की मिठास नहीं है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य की मिठास है; इसलिए उसके सत्पुण्य नहीं होता।

(5) संवेग

भवभ्रमण से भयभीत होकर मोक्षमार्ग के प्रति वेग अर्थात् उत्साहभाव आना, वह संवेग है। रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग की ओर का उत्साहभाव आये, वह संवेग है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि के ही

रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग की ओर का उत्साह होता है, उसके साथ जो शुभरागरूप व्यवहार संवेग होता है, वह तीर्थङ्करादि प्रकृति के बन्ध का कारण होता है और सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धभाव, मोक्ष का कारण होता है।

(6) शक्तितः त्याग

शक्तितः त्याग अर्थात् शक्ति-अनुसार त्याग, लेकिन किसे? वस्तुतः सम्यग्दृष्टि को ही शक्तिनुसार त्याग होता है। वह अन्तर में आत्मा की आनन्द शक्ति का भान करके, उसमें एकाग्रता की शक्ति अनुसार त्याग करता है। अज्ञानी, हठ से त्याग करे, उसकी यह बात नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना तो सब व्यर्थ है, उसकी धर्म में कोई गिनती नहीं है। सम्यक्त्वी हो और कदाचित् विशेष त्यागी न हो अर्थात् गृहस्थाश्रम में हो तो भी उसे श्रेणिक राजा की तरह तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव, शुभराग से बाह्य में त्याग करके, उससे तीर्थङ्करप्रकृति बाँधना चाहे तो उसे नहीं बँध सकती।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सम्यक्त्वी को भी त्याग में जितना शुद्ध वीतरागभाव है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ के राग से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो जाता है। वह बन्ध भी जिसे उस प्रकार की योग्यता हो, उसे ही होता है; सबको नहीं।

(7) शक्ति अनुसार तप

शक्ति के अनुसार तप भी उपरोक्तानुसार सम्यक्त्वी का ही तप समझना चाहिए। वस्तुतः सम्यग्दर्शन के बिना तप नहीं होता। शुद्ध उपयोग द्वारा चैतन्य का प्रतपन, वह निश्चयतप है, वह कर्मों के नाश

का कारण है और निश्चयतपसहित जिसे तप का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ, उससे किसी जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हो जाता है। सम्यग्दर्शन को साथ रखकर ही यह बात है।

(8) साधुसमाधि

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को रत्नत्रय की आराधना का अत्यन्त प्रेम है; इसलिए रत्नत्रय के आराधक अन्य धर्मात्मा जीवों को आत्मसिद्धि में विघ्न आता देखकर, उसे दूर करने का भाव आता है; उनकी आराधना एवं समाधि अखण्ड बनी रहे - ऐसा भाव होता है, इसका नाम साधुसमाधि भावना है।

रत्नत्रय के साधक सन्तों के प्रति धर्मी को अन्तर के बहुमान उछलने लगता है, उनकी सेवा का भाव आता है। स्वयं को उन रत्नत्रय का बड़ा प्रेम है; इसलिए उस भूमिका में अन्य रत्नत्रय के साधक धर्मात्माओं को भी अखण्ड समाधि रहे - शान्ति रहे; उसमें विघ्न न आये - ऐसी भावना होती है, और ऐसे उत्तम शुभभाव द्वारा किसी सम्यक्त्वी को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध भी हो जाता है। सामनेवाले जीवों की समाधि तो उनके अपने भाव से है किन्तु इस सम्यक्त्वी को वैसा भक्तिभाव अपनी भूमिका के कारण आता है।

(9) वैयावृत्त्यकरण

मोक्ष के साधक मुनियों की/धर्मात्माओं की वैयावृत्य अर्थात् सेवा करने का भाव, सम्यक्त्वी को आता है। यद्यपि धर्म के जिज्ञासुओं को भी वैसा भाव आता है किन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शनसहित की बात है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यादृष्टि जीव, मात्र शुभभाव से जो वैयावृत्यादि करता है, वह कहीं तीर्थङ्करप्रकृति के बन्ध का

कारण नहीं हो सकता; वह तो साधारण पुण्यबन्ध का कारण है। यहाँ तो सम्यग्दर्शनसहित के विशेष भावों की बात है। तीर्थङ्करप्रकृति के कारणभूत इन सोलह भावनाओं का शुभभाव तो सम्यक्त्वी को ही आता है।

(10) अर्हन्तभक्ति

अरहन्त भगवान की भक्ति का यथार्थ भाव जैसा सम्यक्त्वी को होता है, वैसा मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। अन्तर में सम्यग्दर्शनरूपी शुद्धभाव है, वह तो अरिहन्तदेव की निश्चयस्तुति है, वह कही बन्ध का कारण नहीं है किन्तु वहाँ साथ ही अरहन्त भगवान की भक्ति का भाव उछलता है, उस शुभभाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है।

देखो, यहाँ महिमा तो सम्यग्दर्शन की बतलाना है; पुण्य की महिमा नहीं बतलाना किन्तु इस प्रकार का उच्च पुण्य, सम्यग्दर्शनसहित भूमिका में ही बँधता है – ऐसा कहकर सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाई है।

तीर्थङ्करप्रकृति बँधने से जीव को स्वयं को या पर को लाभ होता है – ऐसा नहीं बतलाना है क्योंकि उस जीव को स्वयं भी जब उस प्रकार के राग का अभाव होगा, तभी केवलज्ञान होगा और केवलज्ञान होगा, तभी तीर्थङ्करप्रकृति का फल प्राप्त होगा। उसके निमित्त से जो दिव्यध्वनि खिरेगी, उस ध्वनि के लक्ष्य से भी सामनेवाले श्रोता जीव को धर्म का लाभ नहीं होता, किन्तु उस वाणी का लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का लक्ष्य करने पर ही उसे धर्म का लाभ होता है और तभी उसके लिए वाणी में धर्म के निमित्तपने का आरोप आता है। इस प्रकार यद्यपि तीर्थङ्करप्रकृति के बन्धभाव से

स्व अथवा पर को धर्म का लाभ नहीं होता, तथापि वह भाव, धर्म की भूमिका में ही होता है और फिर भी धर्मी उसे उपादेय नहीं मानते।

जिस जीव को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हुआ, वह जीव अवश्य ही तीसरे भव में केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थङ्कर होता है किन्तु उसका निर्णय कहीं अकेले राग द्वारा नहीं हुआ है; सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव के प्रताप से वह निर्णय हुआ।

तीर्थङ्करप्रकृति के आस्रव के कारणरूप सोलह भावनाएँ हैं, उनमें से यह दसवीं अरहन्त भक्ति है। सोलह भावनाओं में से किसी जीव को कोई भावना मुख्य होती है और किसी को कोई होती है किन्तु सम्यग्दर्शनसहित दर्शनविशुद्धि तो सब को होती ही है – ऐसा नियम है।

निश्चय से तो सम्यग्दर्शन द्वारा इन्द्रियातीत ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करना, वह अरहन्त-भक्ति है; ऐसी निश्चयभक्तिसहित व्यवहारभक्ति की यह बात है। मिथ्यादृष्टि को अकेली व्यवहारभक्ति होती है, उसकी यह बात नहीं है। अभी तो जिसे अरिहन्त भगवान आदि की व्यवहारभक्ति का भाव भी उल्लसित नहीं होता, उसे परमार्थभक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शनादि की पात्रता तो होगी ही कहाँ से?

जिस प्रकार व्यापारी की दृष्टि लाभ पर है। अधिक लाभ और कम खर्च होता हो तो वहाँ लाभ की दृष्टि में खर्च की परवाह नहीं करता; जैसे, हजार का खर्च और लाख का लाभ होता हो तो वहाँ खर्च को मुख्य नहीं मानता, किन्तु लाभ को ही मुख्य मानकर व्यापार करता है, उसे लाभ का ही लक्ष्य है; उसी प्रकार सम्यक्त्वी के उपयोग का व्यापार आत्मोन्मुख हो गया है, उसे आत्मा के लक्ष्य का

लाभ है। सम्यक्त्वी व्यापारी की दृष्टि लाभ पर ही है; स्वभाव की दृष्टि में उसे शुद्धता का लाभ ही होता जाता है। शुभराग होने पर भी उसकी दृष्टि तो शुद्धस्वभाव के लाभ पर ही है।

अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी जीव को जिनेन्द्र भगवान का बहुमान-भक्ति-पूजा, जिनमन्दिर तथा जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का उत्सव, तीर्थयात्रादि का शुभभाव आता है, उस राग के निमित्त से कुछ आरम्भ-समारम्भ भी होता है किन्तु धर्मात्मा को तो धर्म के बहुमान का लक्ष्य है; हिंसा का भाव उसका लक्ष्य नहीं है; इसलिए वहाँ अल्पारम्भ को मुख्य नहीं माना है और स्वभाव दृष्टि के उल्लास में अल्प राग को भी मुख्य नहीं गिना है। अपने परिणाम में धर्म का उल्लास है; इसलिए धर्म का लाभ होता जाता है, उसी की मुख्यता है। वहाँ अल्प राग तो है किन्तु धर्मी का उल्लास उस राग की ओर नहीं है; धर्मी का उल्लास तो धर्म के प्रति ही है।

- ऐसे धर्मी को ही अरहन्त-भक्ति आदि भाव से तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है।

(11) आचार्यभक्ति

अरहन्त भक्ति की भाँति आचार्य भक्ति में भी धर्मी को उस प्रकार का भाव आता है। सम्यक् रत्नत्रय के धारक आचार्य कैसे होते हैं ? - उन्हें पहिचानने पर उनका बहुमान आता है। सोलह -कारणभावना में तो सम्यग्दर्शनसहित आचार्यभक्ति की बात है।

(12) बहुश्रुतभक्ति

श्रुतकेवली अथवा उपाध्याय अथवा विशेष श्रुतधारी सन्तों के

प्रति धर्मी को जो भक्ति होती है, उसका नाम बहुश्रुतभक्ति है। अन्तर में अपने भावश्रुतज्ञान को चिदानन्दस्वभाव में एकाकार किया है, उतनी तो भावश्रुत की निश्चयभक्ति की है और वहाँ विशेष श्रुतज्ञानधारी सन्त के प्रति बहुमान का भक्तिभाव आता है, उसके निमित्त से किसी को तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध भी होता है। श्रुतज्ञान क्या है ? उसी की जिसे खबर नहीं है, ऐसे अज्ञानी को सच्ची श्रुतभक्ति नहीं होती और न उसे तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध होता है।

भावश्रुत तो ज्ञानपरिणति है, उस ज्ञानपरिणति की अन्तर के परमात्मा के साथ एक होने पर 'आनन्द पुत्र' का जन्म होता है। अभव्य को ऐसी ज्ञानपरिणति नहीं होती; इसलिए उसके आनन्द का जन्म नहीं होता, किन्तु आकुलता का ही जन्म होता है क्योंकि वह अपने ज्ञान को बाह्य में और राग में ही एकाग्र करता है; इसलिए आकुलता की ही उत्पत्ति होती है। ज्ञानी को चिदानन्दस्वभाव में ज्ञानपरिणति की एकता होने से अतीन्द्रिय आनन्द का जन्म होता है।

(13) प्रवचनभक्ति

भगवान के कहे हुए और सन्तों के गूँथे हुए जो महान् शास्त्र हैं, उनके प्रति धर्मी को भक्ति का भाव आता है, उसमें भी उपरोक्तानुसार ही समझ लेना चाहिए।

(14) आवश्यकों का अपरिहार

सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्रदशा में सामायिक, प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाएँ होती है; इसलिए उस-उस काल में उस प्रकार का विकल्प आता है। वहाँ जब जिस आवश्यक का काल हो अर्थात् सामायिकादि का जो समय हो, उस काल में वह बराबर करना और

उनमें भङ्ग नहीं पड़ने देना, उसका नाम आवश्यक का अपरिहार है। निर्विकल्पदशा न हो, वहाँ सम्यक्त्वी को ऐसा भाव आता है – यह उसकी बात है। सम्यग्दर्शन के बिना तो सामायिकादि होते ही नहीं। सामायिकादि सम्यग्दृष्टि के ही होते है और जो रागरहित सामायिक है, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु इसके साथ का उस प्रकार का विकल्प, वह तीर्थङ्करप्रकृति आदि के आस्रव का कारण है।

(15) मार्गप्रभावना

रत्नत्रयरूप जो मार्ग है, उसकी प्रभावना का भाव, धर्मी को आता है। अज्ञानी को तो मार्ग का पता ही नहीं है; अत: जिसने मार्ग जाना हो, वही उसकी प्रभावना करेगा न! प्रभावना में सबसे उत्तम प्रभावना तो 'आत्म प्रभावना' अर्थात् 'आत्मा की विशेष भावना' है। उस आत्म प्रभावना का रत्नत्रयरूपी तेज द्वारा उद्यापन होने से वह केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट फल प्रदान करती है। स्वभाव की भावना द्वारा जितनी वीतरागी शुद्धता अपने आत्मा में प्रगट की, उतनी तो धर्मी को निश्चयप्रभावना है और उसके साथ-साथ अस्थिरता की भूमिका में जिनधर्म की प्रभावना का शुभभाव भी उसे आता है। उस धर्मात्मा की दृष्टि तो शुद्धभाव के लाभ पर ही है किन्तु बीच में राग आता है, उतना खर्च है। इस प्रकार साधकदशा में अंशत: शुद्धता और अंशत: राग, दोनों होते हैं। केवलज्ञानी भगवान को राग का एकदम अभाव होकर पूर्ण आनन्द का लाभ हो गया है; इसलिए उन्हें तो अकेला लाभ ही है और खर्च बिल्कुल नहीं है।

जिस प्रकार चक्रवर्ती के पद-पद पर निधान पकते हैं, उनमें उन्हें अकेला लाभ ही है; उसी प्रकार धर्म के चक्रवर्ती – ऐसे सर्वज्ञ

भगवान को अकेला धर्म का पूरा लाभ ही है। यद्यपि साधक को भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि में पर्याय-पर्याय में लाभ ही होता रहता है, तथापि अभी अल्प राग है, उतना खर्च भी है; फिर भी उसे शुद्धदृष्टि के बल से लाभ की ही मुख्यता है। शुद्धदृष्टिसहित बीच में रत्नत्रयरूपी सन्मार्ग की प्रभावना का तथा देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना का शुभभाव है और वह तीर्थङ्करप्रकृति आदि उच्च पुण्यबन्ध का कारण है। रत्नत्रय का शुद्धभाव है, वह धर्म है और वही मोक्ष का कारण है।

(16) प्रवचनवात्सल्य

प्रवचनवात्सल्य अर्थात् संघ तथा साधर्मी के प्रति अतिशय प्रमोद-वात्सल्य का भाव, धर्मी को आता है। अन्तर में स्वयं को रत्नत्रयधर्म की अतिशय प्रीति है, इसलिए रत्नत्रय की साधना करनेवाले अन्य धर्मात्माओं के प्रति भी उन्हें अतिशय प्रीति का भाव आता है। देखो! यह सम्यग्दर्शनसहित वात्सल्य की बात है। सम्यग्दर्शन से पूर्व की भूमिका में भी जिज्ञासु को धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त वात्सल्य एवं भक्तिभाव होता है किन्तु तीर्थङ्करप्रकृति के कारणरूप हो – ऐसा वात्सल्यभाव तो सम्यग्दर्शनसहित जीव को होता है; इसलिए यहाँ उसकी बात है।

इस प्रकार तीर्थङ्करप्रकृति के कारणरूप जो सोलह भावनाएँ कही गयी हैं, वे सम्यग्दर्शनसहित जीव के ही होती हैं; मिथ्यादृष्टि के नहीं होती और इन सोलह भावनाओं में भी पहली दर्शनविशुद्धि मुख्य है अर्थात् पहली दर्शनविशुद्धि तो होना ही चाहिए। दर्शनविशुद्धि के बिना अन्य पन्द्रह भावनाओं का व्यवहार हो, तथापि वह कार्यकारी नहीं होता और वे पन्द्रह भावनाएँ कदाचित् न हों तो भी अकेली

दर्शनविशुद्धि भावना ही उन पन्द्रह का कार्य कर लेती है। इस प्रकार दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वयं कहीं बन्ध का कारण नहीं है किन्तु दर्शनविशुद्धि में सम्यग्दर्शन के साथ विशुद्धता सम्बन्धी जो विकल्प हो, वह बन्ध का कारण है – ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार जिनशासन में सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव ही उपादेय हैं और उन शुद्धभावों के द्वारा ही जिनशासन की शोभा है, उन्हीं से जिनशासन की महिमा है। ●●

मुनिदशा में परिग्रह का फल निगोद

देखो! महावीतरागी सन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव अष्टपाहुड़ में कहते हैं कि वस्त्र का एक धागा भी परिग्रह के रूप में रखकर अपने को मुनिदशा मनवानेवाला जीव निगोद में जाता है क्योंकि उसने मुनिदशारूप मार्ग को ही विपरीत माना है। यह कहने में आचार्यभगवान की ऐसी भावना नहीं है कि हमारा विरोध करता है; इसलिए निगोद भेजना परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला जीव, अपने विपरीत परिणाम के कारण निगोद में जाता है। यह बताकर आचार्यदेव, करुणाबुद्धि से जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाना चाहते हैं... अरे जीव! मुनिदशा का वास्तविक स्वरूप पहचान और जिनमार्ग की सच्ची श्रद्धा कर कि जिससे तेरे आत्मा का इन संसार के दुःखों से अन्त आये और मोक्षसुख प्रगट हो। *(– आत्मभावना, पृष्ठ 46)*

प्रवचन – 3

सम्यग्दृष्टि को मुनिदशा की भावना

सम्यक्त्वी जीव, मुनि होने से पूर्व भी शुद्ध आत्मा की भावना भाता है कि अहो! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ; अपने आत्मा के आनन्द में मैं कब लीन होऊँ? आत्मा में लीन होकर मैं कब रत्नत्रय प्रगट करूँ! अहो! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा में लीन होकर मुनिदशा होगी।

अहो! मुनिवर, आत्मा के आनन्द में झूलते हैं... बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं.... बाह्यदृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है.... मुनियों के अन्तर में आत्मानन्द का सागर उछल रहा है.... उपशमरस की बाढ़ आयी है।

जैनधर्म की श्रेष्ठता इस प्रकार है कि वह भावी भव का नाश करता है, संसार का अन्त करके मुक्ति देता है; इसलिए जैनधर्म की महिमा है। इसके अतिरिक्त अन्य रीति से/पुण्यादि से जैनधर्म की महिमा माने तो उसने जैनशासन को जाना ही नहीं....। अभी तो जो अनन्त भव की शङ्का में पड़ा हो, अरे! भव्य-अभव्य की भी शङ्का में पड़ा हो – ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गन्ध भी नहीं आयी है। *[श्रीभावपाहुड़, गाथा 80 से 82 पर प्रवचन]*

भाव की विशुद्धता के निमित्त आचरण कहते हैं –

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर॥ 80॥
द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन।
धरहि मनोमत्तदुरितं ज्ञानांकुशेन मुनिप्रवर!॥ 80॥

तेरह क्रिया तप बार विध भा विविध मनवचकाय से।
हे मुनिप्रवर! मन मत्त गज वश करो अंकुश ज्ञान से॥ 80॥

अर्थात् हे मुनिवर! मुनियो में श्रेष्ठ! तू बारह प्रकार के तप का आचरण कर और तेरह प्रकार की क्रिया, मन-वचन-काय से भा और मनरूप मतवाले हाथी को ज्ञानरूप अङ्कुश से अपने वश में रख।

भावार्थ यह मनरूप हाथी बहुत मदोन्मत्त है, वह तपश्चरण क्रियादिकसहित ज्ञानरूप अङ्कुश से ही वश में होता है; इसलिए यह उपदेश है, अन्य प्रकार से वश में नहीं होता है। ये बारह तपों के नाम हैं – 1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रसपरित्याग, 5.विविक्तशय्यासन, 6. कायक्लेश – ये तो छह प्रकार के बाह्यतप हैं और 1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. व्युत्सर्ग, 6. ध्यान – ये छह प्रकार के अभ्यन्तरतप हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिए।

तेरह क्रिया इस प्रकार हैं – पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार – ये पाँच क्रिया, छह आवश्यक क्रिया, निषिधकाक्रिया और आसिका-क्रिया। इस प्रकार भाव शुद्ध होने के कारण कहे।

***

अब, कहते हैं कि हे मुनि! बारह प्रकार के तप आदि भी

भावशुद्धि के निमित्त ही हैं; इसलिए भावविशुद्धि के निमित्त से तू उन तपादि की भावना कर।

भावविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन से है। उस विशुद्धता के निमित्त से तू बारह प्रकार के तप तथा तेरह प्रकार की क्रियाओं की भावना कर अर्थात् उन सब में शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की ही मुख्यता रख और ज्ञानरूपी अङ्कुश द्वारा मदोन्मत मनरूपी हाथी को वश में कर। जो मन, बाह्य विषयों में भटकता है, उसे ज्ञान की एकाग्रतारूपी अङ्कुश द्वारा अन्तरोन्मुख कर।

चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता में शुद्धभाव होने से बारह प्रकार के तपादि सहज ही हो जाते हैं। अन्तर में चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन बिना शान्ति या शुद्धता नहीं होती। 'मैं अनन्त शक्ति का धारक चैतन्यपिण्ड आत्मा हूँ' – इस प्रकार अन्तर्मुख लक्ष्य करके एकाग्र होना, वह शान्ति का तथा भावशुद्धि का उपाय है। ऐसी भावशुद्धि के बिना तपादि को यथार्थ नहीं कहा जाता, क्योंकि आत्मस्वभाव में एकाग्रता के बिना वास्तव में विषयों का निरोध नहीं होता।

हे उत्तम मुनि! तेरा मनरूपी हाथी, मोह से मदोन्मत्त होकर बाह्य में विषय-कषायों का चारा चरने न जाए, किन्तु अन्तर में आनन्द का चारा चरे, उसके लिए तू ज्ञानरूपी अङ्कुश द्वारा उसे वश कर अर्थात् अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा में एकाग्र कर। तपश्चरणादिक का उपदेश भी अन्तर में एकाग्रतारूप भावशुद्धि के लिए ही है।

द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिङ्ग का स्वरूप इस प्रकार है –

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं॥ 81॥

पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षु।
भाव भावयित्वा पूर्वं जिनलिंग निर्मलं शुद्धम्॥ 81॥

वस्त्र विरहित क्षिति शयन भिक्षा असन संयमसहित।
जिनलिंग निर्मलभाव भावित भावना परिशुद्ध है॥ 81॥

अर्थात् निर्मल शुद्ध जिनलिङ्ग इस प्रकार है – जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावितपूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप परद्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रमयी हुआ, उसे बारम्बार भावना से अनुभव किया; इस प्रकार जिसमें भाव है – ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्यमलरहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मलरहित जिनलिङ्ग है।

भावार्थ यहाँ लिङ्ग द्रव्य–भाव से दो प्रकार का है। द्रव्य तो बाह्य त्याग अपेक्षा है, जिसमें पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, वे पाँच प्रकार ऐसे है – 1. अण्डज अर्थात् रेशम से बना, 2. बोण्डुज अर्थात् कपास से बना, 3. रोमज् अर्थात् ऊन से बना, 4. वल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना, 5. चर्मज् अर्थात् मृग आदिक के चर्म से बना; इस प्रकार पाँच प्रकार कहे। इस प्रकार नहीं जानना कि इनके सिवाय और वस्त्र ग्राह्य हैं – ये तो उपलक्षणमात्र कहे हैं, इसलिए सब ही वस्त्रमात्र का त्याग जानना।

भूमि पर सोना, बैठना, इसमें काष्ठ तृण भी गिन लेना। इन्द्रिय और मन को वश में करना, छह काय के जीवों की रक्षा करना। इस प्रकार दो प्रकार का संयम है। भिक्षा भोजन करना जिसमें कृत,

कारित, अनुमोदना का दोष न लगे–छियालीस दोष टले–बत्तीस अन्तराय टले – ऐसी विधि के अनुसार आहार करे। इस प्रकार तो बाह्यलिङ्ग है और पहिले कहा वैसे ही वह 'भावलिङ्ग' है।

इस प्रकार तो बाह्यलिङ्ग है और पहिले कहा, वैसे हो वह 'भावलिङ्ग' है। इस प्रकार दो प्रकार का शुद्ध जिनलिङ्ग कहा है, अन्य प्रकार श्वेताम्बरादिक कहते हैं, वह जिनलिङ्ग नहीं है।

***

अब, जिनशासन में मुनि को द्रव्य और भाव की दशा कैसी होती है, मुनि को अन्तरङ्ग भाव की शुद्धिरूप भावलिङ्ग, तथा बाह्य में द्रव्यलिङ्ग कैसा होता है? यह कहकर जिनलिङ्ग का स्वरूप बतलाते हैं।

मुनियों ने, मुनिदशा होने से पूर्व परद्रव्यों से भिन्न शुद्ध आत्मा के स्वरूप को श्रद्धा–ज्ञान में लेकर बारम्बार उसकी भावना भायी थी; पूर्व काल में भायी हुई शुद्ध आत्मा की भावना से अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्ध निर्मलदशा हुई है, वह तो मुनि का भावलिङ्ग है तथा ऐसी भावशुद्धिपूर्वक वस्त्रादिरहित दिगम्बरदशा, भूमिशयन, पञ्च महाव्रतादि होते हैं, वह द्रव्यलिङ्ग है; इस प्रकार द्रव्य और भाव से निर्दोष जिनलिङ्ग हो, वही मुनिदशा है।

अहो! जहाँ चैतन्य के आनन्द में एकदम लीन होने की तैयारी हुई, वहाँ शरीर के प्रति ऐसी उदासीनवृत्ति हो जाती है कि वस्त्रादि का त्याग भी सहज ही हो जाता है। चारित्रदशा प्रगट करके चिदानन्दस्वभाव में लीन होने की योग्यता हुई और उस प्रकार के कषाय दूर हो गये, वहाँ वस्त्र रखने की वृत्ति नहीं रहती, इतनी

निर्विकारीदशा हो जाती है कि वस्त्र से शरीर को ढँकने की वृत्ति नहीं रहती – ऐसी होती है जैन मुनियों की दशा!

मुनिदशा होने पर बाह्य में वस्त्रों का छूट जाना तथा शरीर की दिगम्बरदशा होना तो जड़ की अवस्था है, उस अवस्था की कर्तृत्वबुद्धि तो धर्मी को है ही नहीं; उन्हें तो ज्ञानानन्दस्वभाव की ही दृष्टि है, इसके अतिरिक्त सभी जगह से कर्तृत्व/स्वामित्व उड़ गया है। ऐसी दृष्टि के बिना कभी किसी के मुनिपना अथवा धर्मीपना नहीं होता।

शुद्ध आत्मा की ऐसी दृष्टि होने पर भी जब तक वस्त्रादि परिग्रह का रागभाव हो, तब तक मुनिदशा नहीं होती; वहाँ पञ्चम गुणस्थान का श्रावकपना हो सकता है किन्तु छट्ठे–सातवें गुणस्थानरूप मुनिपना तो कदापि नहीं हो सकता।

मुनिवरों को अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव है, वह भावलिङ्ग है और शरीर की निर्ग्रन्थदशा आदि होती है, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसा भाव तथा द्रव्यरूप जिनलिङ्ग जैनशासन में कहा है। जहाँ वस्त्रादि का सर्वथा त्याग नहीं है तथा अन्तर में शुद्ध रत्नत्रय का भाव नहीं है, वहाँ जिनशासन का मुनिपना नहीं होता। जिनशासन से विपरीत मुनिदशा बतलानेवाला मिथ्यादृष्टि है।

मोक्ष का साधन जो शुद्धरत्नत्रय है, उसे धारण करनेवाले मुनिवर मुख्यतः तो वन जङ्गल में, गिरी–गुफाओं में रहते है; दिन में एक ही बार विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेते हैं; भूमिशयन करते हैं तथा द्रव्य और भाव से संयम का पालन करने हैं। अन्तर में भावसंयम का पालन करते हों और बाह्य में द्रव्यसंयम न हो अर्थात् गृहवास में रहते हों और मुनिपना हो जाए – ऐसा कभी नहीं होता।

जिनशासन में मुनि कैसे हैं? कि उन्होंने पूर्व काल में जो शुद्धभाव की भावना भायी है, उसका बारम्बार अनुभव करते हैं। पहले से ही शुद्ध आत्मा के भानसहित सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव की भावना भायी है; राग की भावना नहीं, किन्तु शुद्धता की ही भावना भायी है। मैं परद्रव्यों और परभावों से भी भिन्न शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसी आत्मभावना पहले से ही अर्थात् गृहस्थदशा से ही भायी है; वह पूर्व भावित भावना भाकर मुनिदशा में बारम्बार शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। देखो! यह मुनि की दशा!! मुनिदशा कहो या जिनलिङ्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो, उसकी ऐसी दशा है। जिसमे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव है – ऐसा जैनधर्म का चिह्न है।

आत्मा, जड़ पदार्थों और कर्मों से पृथक् ज्ञानानन्दस्वरूप है। सम्यक्त्वी जीव उसकी बारम्बार भावना भाता है और मुनि होने के पश्चात् उसका बारम्बार अनुभव करता है। प्रथम तो जिसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान ही न हो, वह उसका बारम्बार अनुभव कैसे करेगा? और शुद्ध आत्मा के बारम्बार अनुभव के बिना मुनिदशा नहीं होती। मुनि होने से पूर्व भी उस शुद्ध आत्मा की भावना भायी है कि अहो! मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मैं ऐसे आत्मा के आनन्द में कब लीन होऊँ? आत्मा में लीन होकर कब रत्नत्रय प्रगट करूँ? अहो! धन्य है उस दशा को और उस भाव को कि जब आत्मा के आनन्द में लीन होकर मुनिदशा होगी! ऐसी भावनाएँ आत्मज्ञानसहित मुनि होने से पूर्व भायी हैं। अब, मुनिदशा में उन भावनाओं को भाकर बारम्बार आनन्द के अनुभव में लीन होते हैं। अन्तर में लीनता से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप परिणति हो गयी है।

अहो! मुनिवर तो आत्मा के आनन्द में झूलते हैं। बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं। बाह्य दृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है। मुनि की बाह्यदशा तो बिलकुल नग्न दिगम्बर ही होती है तथा अन्तर में आत्मा की शान्ति का सागर उछलता है.... आनन्द का सागर उछलता है.... उपशमरस का ज्वार आया है। यद्यपि अभी महाव्रतादि की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानते हैं।

मुनिराज को शुभराग की भावना नहीं है, अपितु शुद्ध चैतन्य की ही भावना है.... और उस भावना के बल से अन्तर में लीन होकर चैतन्य के कपाट खोल दिये हैं.... चैतन्य के कपाट खोलकर भीतर से ज्ञान और आनन्द को बाहर निकाला है। अन्तर में ऐसे शुद्धभावसहित मुनिदशा होती है और ऐसा शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है। अन्तर में ऐसे शुद्धभाव के बिना, मात्र महाव्रतादि का पालन करे अर्थात् द्रव्यलिङ्ग धारण करे तो वह सिर्फ पुण्य के आस्रव का कारण है किन्तु उससे धर्म नहीं है। इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि पूर्व काल में जो शुद्ध आत्मा जाना था और उसकी भावना भायी थी, उसी को बारम्बार भाकर तथा अनुभव करके जिन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट किया है, उन्हीं के मुनिदशा होती है।

प्रथम, ऐसी श्रद्धा और पहिचान करना चाहिए कि शुद्ध आत्मा के अन्तरअवलोकन से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही मोक्ष का कारण है और शुभभाव, मोक्ष का कारण नहीं है। ऐसी सम्यक्श्रद्धा और पहिचान करनेवाला भी सत्यमार्ग में है किन्तु श्रद्धा ही विपरीत रखे, शुद्धभाव को न पहिचाने तथा राग को

धर्म माने तो वह विपरीत मार्ग पर है। भव का अन्त, शुद्ध सम्यग्दर्शनादि भाव द्वारा ही होता है और उसी से जैनशासन की श्रेष्ठता है।

जैनधर्म की महिमा गाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि -

जिनधर्म की महिमा बतलाते हैं -

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं॥ 82॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम्।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भाविभवमथनम्॥ 82॥

ज्यों श्रेष्ठ चंदन वृक्ष में हीरा रतन में श्रेष्ठ है।
त्यों धर्म में भवभाविनाशक एक ही जिनधर्म है॥ 82॥

अर्थात् जैसे, रत्नों में प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम वज्र (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है; वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभव मथन अर्थात् आगामी संसार का मथन करनेवाला जिनधर्म है, इससे मोक्ष होता है।

भावार्थ 'धर्म' ऐसा सामान्य नाम तो लोक में प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकार से क्रियाकाण्डादिक को धर्म जानकर सेवन करता है परन्तु परीक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला जिनधर्म ही है, अन्य सब संसार के कारण हैं। वे क्रियाकाण्डादिक संसार ही में रखते हैं, कदाचित् संसार के भोगों की प्राप्ति कराते हैं तो भी फिर भोगों में लीन होता है, तब एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरक को पाता है। ऐसे अन्य धर्म नाममात्र हैं, इसलिए उत्तम जिनधर्म ही जानना।

जिस प्रकार रत्नों में श्रेष्ठ वज्ररत्न है, वृक्षों में श्रेष्ठ गोशीर-चन्दन है; उसी प्रकार धर्मों में एक जैनधर्म ही श्रेष्ठ है। कैसा है जैनधर्म ? कि 'भावि भवमथनं' अर्थात् आगामी भवभ्रमण का मन्थन कर देनेवाला है अर्थात् भवभ्रमण का नाश करके मोक्ष देनेवाला है। इसलिए हे जीव! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की भावना कर।

अहो! 'भावि भवमथनं' विशेषण लगाकर तो आचार्यदेव ने जैनधर्म की अचिन्त्य महिमा प्रगट की है। जिस भाव से भवभ्रमण का नाश हो, वही जैनधर्म है; जिससे भवभ्रमण का नाश न हो, वह जैनधर्म नहीं है।

देखो! यह जैनधर्म की श्रेष्ठता!!

कर्मों के अनेक पक्षों का ज्ञान कराया, इसलिए क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? तो कहते हैं कि नहीं। एकेन्द्रियादि जीवों का सूक्ष्म-सूक्ष्म ज्ञान कराया, इसलिए क्या जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? तो कहते हैं कि नहीं। तो फिर किस प्रकार जैनधर्म की श्रेष्ठता है ? जैनधर्म की श्रेष्ठता इस प्रकार है कि वह भावि भव का नाश करता है अर्थात् संसार का नाश करके मुक्ति देता है और इसी से जैनशासन की महिमा है। इसके अलावा अन्य प्रकार से अर्थात् पुण्यादि से ही जैनशासन की महिमा माननेवाले ने तो वास्तव में जैनशासन को जाना ही नहीं है। अभी 83 वीं गाथा में इस बात को विशेष स्पष्ट करेंगे।

जैनधर्म, राग का रक्षक नहीं है किन्तु उसका नाश करके वीतरागता का उत्पादक है अर्थात् भव का नाश करके मोक्ष का देनेवाला है। अनादि कालीन मिथ्यात्वादि का नाश करके, सम्यक्त्वादि अपूर्व

भाव प्रगट हों, उसका नाम जैनधर्म है। भव का मन्थन कर दे, नाश कर दे, वही जैनधर्म है। अभी जो अनन्त भव की शङ्का में पड़ा हो, अरे! भव्य-अभव्य की शङ्का में भी पड़ा हो - ऐसे जीव को तो जैनधर्म की गन्ध भी नहीं आई है।

अहा! जैनधर्म क्या वस्तु है ? - उसकी बात भी लोगों ने यथार्थरूप से नहीं सुनी है! एक क्षण भी जैनधर्म प्रगट करे तो अनन्त भव का 'कट' हो जाए और आत्मा में मोक्ष की छाप उतर आये अर्थात् मुक्ति की निःशङ्कता हो जाए - ऐसा जैनधर्म है। यही जैनधर्म की श्रेष्ठता है; इसलिए हे भव्य! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की भावना भा।

देखो, जो भव का नाश करे, वह जैनधर्म है।

- तो भव का नाश किस प्रकार होता है ? क्या दया-दानादि के शुभराग से भव का नाश हो सकता है ? नहीं; इसलिए शुभराग, वह जैनधर्म नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मस्वभाव का आश्रय करने पर ही सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों द्वारा भव का नाश होता है; इसलिए शुद्ध आत्मा का आश्रय ही जैनशासन है। पुण्य है, वह जैनशासन नहीं है तथा उस पुण्य द्वारा जैनधर्म की महिमा नहीं है। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आश्रय कराके मिथ्यात्व और रागादि का नाश कराता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा भव का नाश कराके मोक्षपद प्रदान करता है, वह जैनधर्म की महिमा है।

जैसे, चन्दन की महिमा क्या ? यही कि ताप हरकर, शीतलता प्रदान करे; उसी प्रकार जैनधर्म की महिमा क्या ? यही कि भाव के

ताप का नाश करके, मोक्ष की परम शीतलता प्रदान करे, वह जैनधर्म की महिमा है। राग में तो आकुलता है, वह जैनधर्म नहीं है।

प्रश्न – सम्यक्त्वी धर्मात्मा को भी राग तो होता है न ?

उत्तर – सम्यक्त्वी को भी जो राग है, वह कहीं जैनधर्म नहीं है; उसे राग से पार चिदानन्दतत्त्व की दृष्टि में जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, वही जैनधर्म है। मोक्षमार्ग की पूर्णता न हुई हो, वहाँ साधक धर्मात्मा को शुद्धता के साथ राग भी होता है किन्तु वहाँ धर्म तो जितनी शुद्धता हुई वही है; जो राग शेष रहा, उसे धर्मात्मा, धर्म नहीं मानते और जो राग को धर्म मानता है, उसे तो धर्म का अंश भी नहीं होता।

राग रहे, पुण्यबन्ध हो और स्वर्गादि का भव मिले, वह जैनधर्म नहीं है तथा उससे जैनधर्म की महत्ता नहीं है किन्तु जिससे चारों गति के भव का नाश होकर सिद्धपद प्रगट हो, वह जैनधर्म है और उसी से जैनधर्म की महत्ता है।

यह 'भावप्राभृत' है। इसमें आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि आत्मा का कौनसा भाव धर्म है ? अथवा आत्मा के किस भाव से जैनधर्म की महिमा है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी शुद्धभाव, वह धर्म है; उसके द्वारा भव का नाश हो जाता है तथा उसी से जिनशासन की महिमा है।

धर्मी जानते हैं कि मेरा चिदानन्दस्वभाव, भवरहित है; भव के कारणरूप विकार, मेरे मूलस्वभाव में है ही नहीं; भवरहित ऐसा जो मेरा चिदानन्दस्वभाव है, उसमें एकता करके शुद्धभाव प्रगट करने पर भव का अभाव हो जाता है, वही मेरा धर्म अर्थात् जैनधर्म है और

उसी से जैनधर्म की महिमा है। भूमिकानुसार राग होता अवश्य है किन्तु उससे जैनधर्म की महिमा नहीं है। जैनधर्म तो वीतरागभावरूप है और राग, वीतरागभाव का साधक नहीं, किन्तु बाधक है; इसलिए वह धर्म नहीं है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को साधक और बाधक दोनों भाव एकसाथ होते हैं किन्तु उनमें साधकभाव ही धर्म है; बाधकभाव धर्म नहीं है और राग, बाधकभाव ही है; अतः वह धर्म नहीं है।

धर्मात्मा/सम्यक्त्वी को भी शुभराग होता है, इसलिए वह धर्म है – यदि ऐसा कहते हो, तब तो सम्यक्त्वी को कभी-कभी अशुभराग भी होता है – तो क्या वह भी धर्म है ? नहीं। जिस प्रकार सम्यक्त्वी को अशुभराग होने पर भी वह धर्म नहीं है, उसी प्रकार शुभराग भी धर्म नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का है। ऐसे धर्म को पहिचानकर उसकी भावना/आराधना करना, वह मोक्ष का कारण है। ●●

प्रवचन - 4

वीतरागी सन्तों की अमृतवाणी

लौकिकजन, पुण्य को धर्म मानते हैं किन्तु वह धर्म नहीं है। अरे जीव! क्या तूने पुण्य अनादि काल में नहीं किये ? अनन्त बार पुण्य करके स्वर्ग का महान देव हुआ, तथापि तेरा यह भवभ्रमण तो ज्यों का त्यों ही बना रहा! इसलिए समझ कि धर्म कोई भिन्न वस्तु है, जिसका तूने कभी एक क्षण भी सेवन नहीं किया। जब तक शुद्ध आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में न ले, तब तक इस शर्मजनक जन्म-मरण से छुटकारा नहीं होता।

देखो, यह चैतन्यानन्द की मस्ती में झूलने और वन में वास करनेवाले वीतरागी सन्तों की वाणी है। जैनधर्म में तो भगवान ने ऐसा कहा है कि जो पुण्य को धर्म मानता है, वह मात्र भोगों की ही इच्छा रखता है। अहो! जिन्हें धर्म की भावना हो.... मोक्ष की भावना हो, वे जीव, आत्मा के स्वभाव का निरीक्षण करो.... आत्मा में अन्तर-अवलोकन करो; वही मुक्ति देनेवाला है। आत्मा के अन्तर-अवलोकन बिना भव का अन्त नहीं आता। अरे! मनुष्य भव पाकर भी यदि आत्मा में भव के अन्त की भनक नहीं उठी तो जीवन किस काम का ? *[श्रीभावप्राभृत, गाथा 83 पर प्रवचन]*

आगे शिष्य पूछता है कि जिनधर्म को उत्तम कहा तो धर्म का क्या स्वरूप है ? उसका स्वरूप कहते हैं कि 'धर्म' इस प्रकार है -

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ 83 ॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥ 83 ॥

व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं।
दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आतमधर्म है ॥ 83 ॥

अर्थात् जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि - पूजा आदिक में और व्रतसहित होना है, वह तो 'पुण्य' ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह 'धर्म' है।

भावार्थ लौकिकजन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभक्रियाओं में और व्रतक्रियासहित है, वह जिनधर्म है परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिनभगवान ने इस प्रकार कहा है कि पूजादिक में और व्रतसहित होना है, वह तो 'पुण्य' है, इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य आदिक समझना, यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिए होता है और उपवास आदिक व्रत है, वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभपरिणाम है उससे पुण्यकर्म होता है; इसलिए इनको पुण्य कहते हैं। इसका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है।

मोह के क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म समझिए। **मिथ्यात्व** तो अतत्त्वार्थश्रद्धान है, क्रोध-मान-अरति-शोक-भय-

जुगुप्सा ये छह **द्वेषप्रकृति** हैं और माया, लोभ, हास्य, रति ये चार तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार – ऐसी सात प्रकृति **रागरूप** हैं। इनके निमित्त से आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव विकारसहित, क्षोभरूप, चलाचल, व्याकुल होता है; इसलिए इन विकारों से रहित हो, तब शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप निश्चय हो, वह आत्मा का 'धर्म' है। इस धर्म से आत्मा के आगामी कर्म का आस्रव रुककर संवर होता है और पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। सम्पूर्ण निर्जरा हो जाए, तब मोक्ष होता है तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होती है; इसलिए शुभपरिणाम को भी उपचार से धर्म कहते हैं और जो **केवल शुभपरिणाम ही को धर्म मानकर सन्तुष्ट हैं, उनको धर्म की प्राप्ति नहीं है,** यह जिनमत का उपदेश है।

***

जिनशासन में धर्म क्या है अथवा किस भाव से जिनशासन की महिमा है ? – वह बात चल रही है। आत्मा, ज्ञान-आनन्दस्वभाव की मूर्ति है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप शुद्धभाव, वह धर्म है और वह धर्म, ग्रहण करने के पश्चात् भव-भ्रमण नहीं रहता, यही जिनशासन की महिमा है। इसलिए कहा है कि जो भव का मन्थन कर डाले, नाश कर डाले – ऐसा जैनधर्म है। उसे हे जीव! तू भा! भव का नाश करने के लिए तू ऐसे धर्म की भावना कर! देखो, वह भवरोग की औषधि!

भाई! तेरा आत्मा सदैव ज्ञान-दर्शन-आनन्द से परिपूर्ण है किन्तु अनादि से एक क्षण भी उसमें तूने दृष्टि नहीं की है। बाह्य दृष्टि से देहादिक की क्रिया का अभिमान करके, उसी में धर्म मान लिया है। आत्मा के भान द्वारा सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट किये बिना, शुभ

-अशुभभाव द्वारा चार गति के भव में अवतार धारण कर रहा है किन्तु उसके द्वारा जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। इसलिए यहाँ कहते हैं कि जो भावी भव का मन्थन कर डाले अर्थात् जिससे भविष्य में भव नहीं मिले, किन्तु मोक्ष प्राप्त हो – ऐसा आत्मा का भाव ही धर्म है और ऐसा भाव, शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

पुण्य से स्वर्ग अथवा मनुष्य का भव मिले या पाप से नरक अथवा तिर्यञ्च का भव मिले, वह कहीं धर्म नहीं है; उसमें दु:ख का अन्त नहीं है। जिससे चारों गति के दु:खों का अन्त आ जाए – ऐसा शुद्ध वीतरागभाव ही धर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य भाव को या अन्य प्रकार से धर्म कहना तो नाममात्र है, उससे कहीं भव का नाश नहीं होता। इसलिए भव का नाश करनेवाले ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शनादि भावों की जिसमें प्राप्ति होती है, वह जिनधर्म ही उत्तम है – ऐसा जानकर हे भव्य! तू उसे अङ्गीकार कर। भव का नाश करने के लिए तू ऐसे धर्म की रुचि कर और राग छोड़। इस वीतरागी धर्म की भावना से तेरे भव का नाश होगा; इसलिए ऐसे धर्म की भावना कर! ऐसा सन्तों का उपदेश है।

देखो, यह जैनधर्म का स्वरूप और उसे उत्तम कहने का कारण! भव का नाश कर डाले, वही जैनधर्म और उसी से उसकी उत्तमता है। जैनधर्म की अर्थात् आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना कर। उसकी भावना द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट होगा और भव का नाश होकर सिद्धपद प्राप्त होगा।

आत्मा क्या वस्तु है, यह जाने बिना धर्म कहाँ से आयेगा ? यह देह तो अचेतन जड़ परमाणुओं का पुतला है – ऐसी देह तो अनन्त

बार आयी और छूट गयी, उसमें कहीं आत्मा का धर्म नहीं है तथा राग-द्वेष-मोहादिभाव हो, वह भी धर्म नहीं है। पुण्य का शुभभाव हो, उसे सामान्य लोग (जिन्हें इस गाथा के भावार्थ में 'लौकिकजन' कहा है, वे) धर्म कहते हैं किन्तु वह कहीं धर्म नहीं है, वह तो राग है; उस राग से कहीं भव का अन्त नहीं आता। जैनधर्म तो वीतरागभावरूप है और भव के नाश का कारण है।

अहो! अनन्त शरीर संयोगरूप से आये और चले गये; अनेक प्रकार के रागादि आये और छूट गये, तथापि यह आत्मा तो वही का वही है तो फिर देह तथा राग से पार उसका क्या स्वरूप है? - उसे पहिचानना चाहिए। जब तक ज्ञानस्वभावी तत्त्व को अनुभव में न ले, तब तक इस शर्मजनक जन्म-मरण से छुटकारा नहीं होता। इसलिए हे भाई! अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप जिनधर्म को अङ्गीकार कर, जिससे तेरे इस जन्म-मरण का अन्त आये।

यह शरीर-वाणी-पैसादि जो जड़ है, वे तो अचेतनभाव से भरपूर हैं तथा चैतन्यस्वरूपी जीव से अत्यन्त भिन्न हैं; इसलिए उनकी तो यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जीव के भाव की बात है। जीव के किस भाव से धर्म होता है? - वह वहाँ बतलाते हैं।

जीव के भाव तीन प्रकार के हैं - (1) शुद्धभाव, (2) शुभभाव, और (3) अशुभभाव। उनमें शुभ तथा अशुभ इन दोनों से रहित जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव है, वही धर्म है और उसी के द्वारा जैनशासन की शोभा है क्योंकि इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव की प्राप्ति जैनशासन में ही होती है और उसी से भव का नाश होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी

जिनधर्म की आराधना के बिना शुभ-अशुभभाव करके जीव अनन्त काल से चार गतियों में भटका है, पुण्य करके स्वर्ग के भव भी अनन्त बार किये, तथापि अभी भव का अन्त नहीं आया; इसलिए हे जीव! तू समझ कि पुण्य है, वह धर्म नहीं है तथा वह करते-करते भव का अन्त नहीं आता।

लौकिकजन पुण्य को धर्म मानते है किन्तु वह धर्म नहीं है। लौकिकजन अर्थात् मिथ्यादृष्टि। पुण्य से धर्म होता है - ऐसा माननेवाला वास्तव में जैनमती है ही नहीं, किन्तु अन्यमती जैसा लौकिकजन है। मोह-राग-द्वेष तो भावी भव का कारण है, राग की भावना तो भव का कारण है; इसलिए हे भव्य! तू उसकी भावना छोड़कर, रागरहित ऐसे चैतन्यस्वभाव की भावना भा।

पाप भिन्न वस्तु है, पुण्य भिन्न वस्तु है और धर्म, वह तीसरी वस्तु है। देहादि जड़ की क्रिया तो जीव से अत्यन्त भिन्न है; इसलिए उसकी तो यहाँ बात नहीं है। हिंसादि पापभावों को तो लोग सामान्यरूप से अधर्म मानते ही हैं किन्तु लोगों का अधिकांश भाग पुण्य को धर्म मानकर मिथ्यात्व में अटक गया है; इसलिए यहाँ यह बात स्पष्ट समझाते हैं कि अरे जीव! क्या तूने अनादि काल में पुण्य नहीं किया हैं? भाई! पुण्य भी तू अनन्त बार कर चुका है और उसके फल में स्वर्ग का महान देव भी हो चुका है, तथापि तेरा यह भव-भ्रमण तो ज्यों का त्यों बना ही रहा; इसलिए समझ कि धर्म कोई भिन्न ही वस्तु है कि जिसका तूने कभी एक क्षण भी सेवन नहीं किया।

तेरा ज्ञानानन्दस्वभाव, पुण्य-पाप दोनों से पार है, उस स्वभाव की ओर ढलकर उसकी रुचि कर, उसकी दृष्टि कर, उसकी

महिमा कर और उसी की भावना कर। पुण्य-पाप - ये दोनों भाव तेरे आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए उनकी रुचि छोड़। जिस प्रकार पाप है, वह धर्म नहीं है; उसी प्रकार पुण्यभाव भी धर्म नहीं है; धर्म तो पुण्य-पाप से रहित ज्ञानानन्दस्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान-रमणतारूप वीतरागभाव है, उसी में भव का नाश करने की शक्ति है। एक क्षण भी ऐसे धर्म का सेवन, अनन्त भव का नाश कर डालता है किन्तु ऐसे यथार्थ धर्म की पहिचान या रुचि तूने पूर्व अनन्त काल में कभी नहीं की है; इसलिए हे भाई! जिनशासन में तो धर्म का ऐसा ही स्वरूप कहा है और ऐसे धर्म की भावना से तेरे भवभ्रमण का अन्त होगा।

अभी तो जो पाप में ही डूबे हुए हैं, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानते हैं, उनकी तो बात ही क्या करें? किन्तु चैतन्य के यथार्थ भान बिना जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानते हैं, व्यवहाररूप व्रत-पूजादि पुण्यभाव करते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं। जो पुण्य को धर्म मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि-लौकिकजन जैसे ही हैं। मिथ्यात्वादि मोहभाव तथा राग-द्वेष-क्षोभ से रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को रुचि, ज्ञान तथा एकाग्रतारूप वीतरागभाव, वह धर्म है। धर्म का ऐसा स्वरूप पहिचान कर पहले उसकी रुचि करो और उससे विपरीत मार्ग की रुचि छोड़ो! ऐसी अन्तर्दृष्टि होने के पश्चात् साधक को अमुक अंश तक राग तो होता है किन्तु उस राग को वे धर्म नहीं मानते; राग को तो बन्ध का ही कारण समझते हैं और शुद्ध चिदानन्दतत्त्व के आश्रय से शुद्धभाव को ही मोक्ष का कारण जानकर उसकी आराधना करते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि की सम्पूर्ण दिशा ही बदल गयी है।

जिसे संसार की आवश्यकता है, संसार की रुचि है, पुण्य की

तथा स्वर्ग की बात मीठी लगती है, वह जीव तो धर्म की रुचिवाला ही नहीं है, वह धर्म का पात्र ही नहीं है। भाई! तुझे भावना किसकी है? धर्म की भावना है न? तो हम कहते हैं कि धर्म तो वीतरागभाव में ही है। अपने आत्मस्वभाव के अन्तर-अवलोकन से जो शुद्ध वीतरागभाव हो, वही धर्म है और राग है, वह धर्म नहीं है।

मैं तो शुद्ध ज्ञानानन्द का भण्डार हूँ, कोई भी परद्रव्य और कोई भी राग मुझे किञ्चित्मात्र हितकर या सहायक नहीं है - ऐसी रुचि तो कर! रुचि की दिशा सच्ची होगी तो आगे चलकर भव का अन्त आ जाएगा, किन्तु जिसकी रुचि ही मिथ्या होगी, जो संसार के कारण को ही मोक्ष का कारण मानकर उसका सेवन करता होगा - उसका उद्धार कहाँ से होगा?

अरे जीव! तेरा आत्मा तेरे पास ही है और उसी के आधार से ही तेरा धर्म है। अन्तर्मुख होकर एकबार उसे प्रतीति में ले। जिस प्रकार रत्नों में वज्ररत्न सर्व श्रेष्ठ है; उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थों मे यह चैतन्यस्वभावी रत्न सर्व श्रेष्ठ है और इस चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप जो बोधि, उसकी प्राप्ति जैनधर्म में ही है; इसलिए जैनधर्म ही जगत् में उत्तम है। जगत् में यह वीतरागभावरूप जैनधर्म ही एक सत्यधर्म है; यह एक वीतरागी जैनधर्म ही मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है। दूसरे धर्म तो नाममात्र ही धर्म हैं, मोक्ष की प्राप्ति उनमें नहीं है अर्थात् वे वास्तव में धर्म हैं ही नहीं।

जिस प्रकार कड़वे चिरायते की थैली पर 'मिश्री' नाम लिख दें तो वह नाममात्र ही है, उससे कहीं चिरायते की कड़वाहट दूर होकर वह मीठा नहीं हो जाता; उसी प्रकार अन्य धर्मों को या रागादि को

धर्म कहना भी नाममात्र ही है, उससे कहीं भव का नाश नहीं होता। आत्मा का शुद्ध वीतरागभाव ही वास्तव में धर्म है, इसके अतिरिक्त शुभराग भी अन्य धर्म है; उस राग को धर्म कहना तो नाममात्र है। राग धर्म नहीं है किन्तु धर्म से अन्य है; इसलिए राग को धर्म माननेवाले भी अन्यमती हैं अर्थात् लौकिकजन हैं – मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए परीक्षा करके निर्णय करना चाहिए कि मोक्ष के कारणभूत धर्म कौन–सा है।

मोक्ष अर्थात् आत्मा की पूर्ण आनन्दमय शुद्ध वीतरागीदशा, उसका कारण भी वीतरागी शुद्धभाव ही है; रागादि अशुद्धभाव मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु संसार का कारण है। संसार अर्थात् आत्मा की विकारीदशा। मिथ्यात्व और राग–द्वेषरूप अशुद्धभाव ही संसार है। बाह्य परवस्तुओं में कहीं आत्मा का संसार नहीं है; इसलिए बाह्य में घर–बार, स्त्री–व्यापार आदि का संयोग छूटनेमात्र से कहीं आत्मा में से संसार नहीं छूट जाता, किन्तु अन्तरङ्ग में शुद्ध सम्यग्दर्शनादिभाव द्वारा मिथ्यात्वादि अशुद्धभावों का अभाव करने से ही संसार का अभाव होकर मोक्षदशा होती है। इस प्रकार आत्मा का संसार, मोक्षमार्ग – वह सब आत्मा में ही है और उसका कारण भी आत्मा में ही है।

बाह्य में यह जो शरीर–घर–बार आदि दिखाई देते हैं, यदि वही संसार हो तो मृत्यु के समय आत्मा इन शरीरादि को छोड़कर अकेला चला जाता है, इन्हें साथ नहीं ले जाता; इसलिए शरीर छूटने पर उसका संसार भी छूट जाना चाहिए और मोक्ष हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा तो नहीं होता। मृत्यु के समय जब जीव, शरीर को

छोड़कर जाता है, उस समय भी अपना संसार तो साथ ही ले जाता है। कौन–सा संसार? तो कहते हैं कि अज्ञान और राग–द्वेषरूपी भाव, वह संसार है और उसे जीव साथ ही ले जाता है। यदि यह अज्ञान और राग–द्वेष के भाव छोड़े तो संसार छूट जाए। संसार क्या और मोक्ष क्या है? उसका भी जीव को भान नहीं है, सब बाह्य में ही मान लिया है।

यहाँ तो सन्त कहते हैं कि पुण्यभाव भी संसार है; वह धर्म नहीं है और अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पुण्य, धर्म है और पुण्य करते –करते मोक्ष हो जाएगा। देखो, कितना महान् अन्तर है? अहो! आत्मा के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी वीतरागधर्म ही संसार के नाश का कारण है, वही जैनधर्म है; उसे चूककर बेचारे मूढ़ जीव, राग और पुण्य में ही धर्म मानकर वहाँ रुक गये हैं किन्तु पुण्य की मिठास तो संसार की ही उत्पत्ति का कारण है।

'पुण्य द्वारा जैनधर्म की श्रेष्ठता है अर्थात् राग द्वारा–विकार द्वारा जैनधर्म की श्रेष्ठता है' – ऐसा मूढ़ अज्ञानी जीव मानते हैं। उन्हें आचार्यदेव ने लौकिकजन कहा है। इस 83 वीं गाथा में आचार्यदेव ने स्पष्टीकरण किया है कि जिनशासन में तो भगवान जिनेन्द्रदेव ने पूजा–व्रतादि के शुभभाव को पुण्य कहा है; उसे धर्म नहीं कहा है, धर्म तो आत्मा के मोह–क्षोभरहित परिणाम को अर्थात् सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप शुद्ध वीतरागभाव को ही कहा है। चैतन्यानन्द की मस्ती में झूलनेवाले और वन में रहनेवाले वीतरागी सन्त की यह वाणी है।

जैनधर्म की महिमा यह है कि मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन

–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव की प्राप्ति उसी में होती है। मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह जैनशासन में ही यथार्थ है....। जैनशासन में सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा –ज्ञान–चारित्र से ही मोक्ष के कारणरूप शुद्धभाव होता है और उसी से जैनधर्म की श्रेष्ठता है। इसलिए हे जीव! ऐसे शुद्धभाव द्वारा ही जैनधर्म की महिमा जानकर तू उसे अङ्गीकार कर और राग को, पुण्य को धर्म मत मान तथा उससे जैनधर्म की महत्ता मत मान।

जैनधर्म में तो भगवान ने कहा है कि जो पुण्य को धर्म मानता है, वह मात्र भोग की ही इच्छा करता है क्योंकि पुण्य के फल में तो स्वर्गादिक के भोगों की प्राप्ति होती है; इसलिए जिसे पुण्य की भावना है, उसे भोग की अर्थात् संसार की ही भावना है किन्तु मोक्ष की भावना नहीं है।

अहो! जिन्हें धर्म की भावना हो, मोक्ष की भावना हो, वे जीव, आत्मा के स्वभाव का निरीक्षण करें.... आत्मा में अन्तर अवलोकन करें.... वही मोक्षदाता है। आत्मा के अन्तर अवलोकन बिना भव का अन्त नहीं आता। मोक्षदशा आत्मा में से आती है; इसलिए आत्मा की शरण लो! राग में से मोक्षदशा नहीं आती; इसलिए राग की शरण छोड़ो!! राग की शरण छोड़कर अन्तर में वीतरागी चैतन्यतत्त्व की शरण लेना, उसकी श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता करना, वह धर्म है – ऐसे धर्म से ही भव का अन्त आता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से भी भव का अन्त नहीं आता।

अज्ञानी भले ही पुण्य करे किन्तु उससे किञ्चित् धर्म नहीं होता। यह मनुष्य–अवतार पाकर यदि आत्मा में भव के अन्त की

भनक जागृत नहीं हुई तो जीवन किस काम का? जिसने भव से छूटने का उपाय नहीं किया, उसके और कौए के जीवन में क्या अन्तर है? इसलिए भाई! अब इस भवभ्रमण से आत्मा का छुटकारा कैसे हो, उसका सत्समागम से उपाय कर। सत्समागम से चिदानन्दस्वभाव का अन्तरङ्ग उल्लासपूर्वक श्रवण करके, उसकी प्रतीति करते ही तेरे आत्मा में भव के अन्त की भनक आ जाएगी।

मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो; उसे जो शुभराग है, वह तो बन्ध का ही कारण है। हाँ, सम्यक्त्वी को तो उस राग के समय भी राग से पार चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि और अंशतः वीतरागता वर्तती है, वह धर्म है तथा जो राग शेष रहा है, उसे वे धर्म नहीं मानते। मिथ्यादृष्टि को तो राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व का लक्ष्य ही नहीं है, वह तो शुभराग को ही धर्म मानता है; इसलिए उसे तो धर्म का अंश भी नहीं है। अज्ञानी या ज्ञानी को राग का अंश तो बन्ध का ही कारण है और सम्यग्दर्शनादि वीतरागभाव, वह मोक्ष का ही कारण है।

जो भाव, बन्ध का कारण हो, उससे धर्म नहीं होता और जो धर्म हो, उससे बन्धन नहीं होता। धर्म कहो या मोक्ष का कारण कहो – ऐसे धर्म की जिसे रुचि नहीं है और शुभराग को ही धर्म मानकर रुचिपूर्वक उसका सेवन करता है, वह जीव कदाचित् पुण्य करके स्वर्ग में चला जाएगा तो वहाँ भी पुण्य की मिठास के कारण उस पुण्य के फलरूप भोग में लीन होकर एकेन्द्रियादि में चला जाएगा और अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा। धर्म का फल तो मोक्ष है, धर्मी को भी बीच में पुण्य तो उच्च प्रकार के आते हैं किन्तु उन्हें उस पुण्य के फल की किञ्चित् रुचि नहीं है; इसलिए वह पुण्य की दीर्घ

स्थिति को तोड़कर स्वभाव में लीनता द्वारा अल्प काल में वीतराग होकर मोक्ष में चला जाएगा और पुण्य को धर्म माननेवाला जीव विपरीत मान्यता के बल से पुण्य की लम्बी स्थिति को तोड़कर निगोद में चला जाएगा, क्योंकि विपरीत मान्यता का फल निगोद है; इसलिए ऐसा समझो कि पुण्य, वह धर्म नहीं है।

जो भवभ्रमण से भयभीत हों, वे राग से धर्म मानना छोड़ दें और रागरहित चिदानन्दस्वभाव की आराधना करें। ज्ञानियों को रागरहित चिदानन्दस्वभाव की भावना से संसार कटकर अल्प काल में मोक्ष हो जाता है और मिथ्यादृष्टि जीव, राग की रुचि तथा चैतन्यस्वभाव का अनादर करके नरक-निगोद में परिभ्रमण करते हैं।

देखो, अभी यह प्रारम्भिक भूमिका की बात है। पहले धर्म की भूमिका तो स्पष्ट करना चाहिए न! - कि कौन-सा भाव धर्म है और कौन-सा अधर्म? अथवा कौन-सा भाव मोक्ष का कारण है और कौन-सा संसार का? इस बात के परिज्ञान बिना, संसार के कारण को धर्म माने, पुण्य को धर्म माने तो उसे धर्म की भूमिका ही स्पष्ट नहीं है। धर्म क्या है? - उसके भान बिना धर्म करेगा कहाँ से? वह तो पुण्यादि को धर्म मानकर, धर्म के नाम पर अधर्म का ही सेवन करके संसार में भटकेगा; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों! तुम जिनशासन में कहे हुए - ऐसे वीतरागभावरूप धर्म को जानकर, भव के अभाव के लिए उसी की भावना करो। ऐसे जिनधर्म को ही उत्तम एवं हितकारी जानकर उसका सेवन करो तथा राग की रुचि छोड़ो, पुण्य की रुचि छोड़ो.... जिससे तुम्हारे भव का अन्त आये और मोक्षदशा प्राप्त हो जाए। ●●

प्रवचन - 5

शुद्धात्मा के अनुभव में जिनशासन

अहो! एक तो समयसार की पन्द्रहवीं गाथा और दूसरी यह भावप्राभृत की 83 वीं गाथा; इसमें आचार्यदेव ने समस्त जैनशासन का सत्त्व भर दिया है। इन दो गाथाओं का रहस्य गुरुगम से समझ लें तो सभी प्रश्नों का निराकरण हो जाए।

भगवान की वाणी, जीवों की भलाई के लिए ही है। जिज्ञासु आत्मार्थी तो ऐसा विचार करता है कि 'अहो! पुण्य, वह धर्म नहीं है' - ऐसा कहकर भगवान मुझे राग से भी पार मेरा चैतन्यस्वभाव बतलाकर, उसका अनुभव कराना चाहते हैं। इस प्रकार स्वभावोन्मुख होकर वह अपना हित साधता है।

[श्रीअष्टप्राभृत, गाथा 83 का मुख्य प्रवचन]

यह भावप्राभृत वचनिका हो रही है। 82 वीं गाथा में जैनधर्म की श्रेष्ठता बतलाकर आचार्यदेव ने कहा है कि हे जीवों! तुम जिनशासन में कहे हुए वीतरागभावरूप धर्म को जानकर चतुर्गति के भव के अभाव के लिए उसी की भावना करो.... ऐसे जिनधर्म को ही उत्तम और हितकारी जानकर, उसका सेवन करो और राग की रुचि छोड़ो....

पुण्य की रुचि छोड़ो.... जिससे तुम्हारे भव का अन्त आये और मोक्ष प्राप्त हो।

जैनधर्म को ही श्रेष्ठ कहा तो वह जैनधर्म कैसा है ? – कि भावी भव का नाश करके मुक्ति देनेवाला है। आत्मा के ऐसे परिणाम कि जिनसे संसार का नाश हो, उसका नाम जैनधर्म है और वह श्रेष्ठ –उत्तम है। इसलिए हे जीव! भावी भव का मन्थन करने के लिए तू ऐसे जैनधर्म की रुचि कर.... आत्मस्वभाव के आश्रय से शुद्धभाव प्रगट कर।

जिनशासन में धर्म का स्वरूप

अब, जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! आपने जैनधर्म को उत्तम कहा और उसकी भावना करने को कहा तो उस धर्म का स्वरूप क्या है ? आपने जैनधर्म की श्रेष्ठता कही तो मुझे उसका स्वरूप जानने की जिज्ञासा जागृत हुई है। जिसे धर्म की आकांक्षा है, अभिलाषा है – ऐसा जीव विनयपूर्वक पूछता है कि हे नाथ! जैनधर्म का सच्चा स्वरूप क्या है ? वह कृपा करके समझाओ!

ऐसे जिज्ञासु जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव 83 वीं गाथा में जैनधर्म का स्वरूप कहते हैं –

जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि पूजादिक, व्रतसहित हों, वह तो पुण्य है और आत्मा के मोह–क्षोभरहित परिणाम, वह धर्म है।

देखो, यह गाथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुण्य और धर्म – दोनों का पृथक्–पृथक् स्वरूप बतलाकर आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है कि शुभराग से जैनधर्म नहीं है; शुभराग, जैनधर्म नहीं है; शुभराग द्वारा

जैनधर्म की महिमा नहीं है। जिनशासन में व्रत–पूजादि के शुभराग को भगवान ने धर्म नहीं कहा, किन्तु उसे पुण्य कहा है और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धपरिणाम को ही जिनशासन में भगवान ने धर्म कहा है, उसी से जिनशासन की महिमा है।

लौकिकजन कौन ?

जैनधर्म के नाम से भी अनेक लोग पुण्य को धर्म मानते हैं, शुभराग करते–करते धर्म होगा – ऐसा मानते हैं अर्थात् राग द्वारा जिनशासन की महिमा मानते हैं। उसका यहाँ आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि अरे भाई! जिनेश्वरदेव ने तो जिनशासन में उस राग को धर्म नहीं कहा है। लोकोत्तर ऐसा जो जैनमार्ग, उसमें तो व्रत–पूजादि के शुभराग को पुण्य कहा है; उसे धर्म नहीं कहा, किन्तु लौकिकजन उसे धर्म मानते हैं। भावार्थ में तो पण्डित जयचन्दजी ने व्रत–पूजादि को धर्म माननवालों को स्पष्टरूप से लौकिकजन तथा अन्यमती कहा है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप वीतरागभाव ही धर्म है, वही भव के नाश का कारण है तथा उसी से जिनशासन की श्रेष्ठता है।

शुद्धात्मा के अनुभव में जिनशासन

अज्ञानी पुकार करते हैं कि क्या पुण्य, जैनधर्म नहीं है ? तो यहाँ निःशङ्करूप से कहते हैं कि नहीं; राग–द्वेष–मोहरहित शुद्धपरिणाम ही जैनधर्म है। आचार्यदेव ने समयसार की 15 वीं गाथा में भी स्पष्ट कहा है कि जो शुद्धात्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है। अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त – ऐसे स्वभावरूप शुद्धात्मा को जो देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है। बस! शुद्धात्मा के अनुभव में समस्त जिनशासन आ

गया? हाँ, उसी में जिनशासन आ गया और उसी में जिनशासन का समावेश हो गया।

अहो, एक तो समयसार की 15 वीं गाथा और दूसरी यह भावप्राभृत की 83 वीं गाथा – इनमें तो आचार्यदेव ने समस्त जैनशासन का सार भर दिया है। इन दो गाथाओं का रहस्य समझ लें तो सभी प्रश्नों का निराकरण हो जाए; इनमें अलौकिकभाव भरे हैं।

अरे, आजकल तो 'जैन-कुल' में जन्म लेनेवालों को भी जैनधर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। वे भी बाह्य क्रिया में या पूजा-व्रतादि के शुभराग में ही धर्म मान बैठे हैं परन्तु वह कहीं जैनधर्म का स्वरूप नहीं है; इसलिए आचार्यदेव ने यह गाथा रखकर स्पष्टीकरण किया है कि पूजा-व्रतादि का शुभराग, वह जैनधर्म नहीं है; जैनधर्म तो मोह-क्षोभरहित वीतरागभाव है। इसे समझे बिना 'हमारा जैनधर्म ही ऊँचा है' – ऐसा भले कहें, किन्तु भाई! पहले तू स्वयं तो जैनधर्म का स्वरूप समझ! जैनधर्म की श्रेष्ठता किस प्रकार है? उसे जानकर ग्रहण करने से तेरा हित होगा।

जिनशासन में जिनवरों का उपदेश

आचार्यदेव, तीर्थङ्कर भगवन्तों की साक्षी देकर कहते हैं कि **'जिनैः शासने भणितं'** अनन्त तीर्थङ्कर जिनशासन में हुए हैं, वर्तमान में भी पञ्च विदेहक्षेत्र में सीमन्धरभगवान आदि बीस तीर्थङ्कर विराजमान हैं, उन तीर्थङ्करभगवन्तों ने जिनशासन में ऐसा कहा है –

क्या कहा है? – कि **'पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि'** अर्थात् पूजादिक व्रतसहित जो हो, वह पुण्य है। तब फिर भगवान ने धर्म किसे कहा है? कि **'मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः'**

अर्थात् मोह-क्षोभरहित आत्मा के परिणाम, वह धर्म है – ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने जिनशासन में कहा है। इससे दूसरे प्रकार माने अर्थात् राग को, पुण्य को धर्म माने तो वह भगवान के जिनशासन का स्वरूप नहीं समझा है।

धर्मी के व्रत, पुण्य है या धर्म?

यहाँ व्रतसहित को भी पुण्य कहा है, उसमें व्रत कहने से श्रावक के अणुव्रत और मुनियों के महाव्रत दोनों आ जाते हैं। सच्चे व्रत तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् पाँचवें-छठवें गुणस्थान में ही होते हैं। अज्ञानी -मिथ्यादृष्टि को सच्चे व्रत नहीं होते। अज्ञानी को तो धर्म का भान नहीं हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी व्रतादि की जो शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म नहीं है। जितना अरागभाव (सम्यग्दर्शनादि) वर्तता है, उतना धर्म है, वह जिनशासन है और जो व्रतादिक का राग रहा है, वह धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है। पुण्य को जिनशासन में धर्म नहीं कहा है; मोह क्षोभरहित जो शुद्ध चैतन्यपरिणाम, उसी को धर्म कहा है।

छठवें गुणस्थान में भावलिङ्गी सन्त मुनि को पञ्च महाव्रत की जो शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी धर्म नहीं है – यह बात सुनकर अज्ञानी भड़क उठता है। उसे राग की रुचि है, इसलिए वह भड़क उठता है किन्तु भाई! तू धीरज रख....। हृदय को स्वस्थ रखकर शान्तिपूर्वक यह बात सुन! राग से पार चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है? उसकी तुझे खबर नहीं है और तूने राग को ही धर्म माना है किन्तु भाई! राग तो तेरे वीतरागी चैतन्यस्वभाव से विरुद्धभाव है, उसमें तेरा धर्म कैसे हो सकता है? पञ्च महाव्रत की वृत्ति के समय भी मुनियों के अन्तर में उस वृत्ति से पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान

लीनता से जितना मोह का तथा राग का अभाव हुआ है, उतना ही धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और जो राग रहा है, वह धर्म नहीं है, मोक्ष का कारण नहीं है।

अज्ञानी की महान भूल

अज्ञानी को तो धर्म का अंश भी नहीं है, वह शुभराग से व्रतादि का पालन करे तो वह पुण्य का कारण है। समयसार में तो उस पुण्य को विषकुम्भ अर्थात् विष का घड़ा कहा है। यद्यपि सम्यक्त्वी को अंशतः वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट हुआ है, तथापि उसे भी व्रत-पूजादि का जो शुभभाव है, वह तो पुण्य का ही कारण है और समयसार में तो उसे भी निश्चय से विषकुम्भ कहा है; शुद्धात्मा के अनुभव को ही अमृतकुम्भ कहा है।

जिन शुभरागरूप प्रतिक्रमणाादि को व्यवहारशास्त्र अमृत कहते हैं, उसे समयसार-मोक्षअधिकार में निश्चय से विष कहा है। इस कथन का आशय यह है कि जिसे आत्मा के चिदानन्दस्वभाव का भान हुआ है, अतीन्द्रिय अमृत का अनुभव हुआ है किन्तु अभी जब तक, उसमें लीन होकर स्थिर नहीं हुआ, तब तक बीच में तो व्यवहार-प्रतिक्रमणादि का शुभराग आता है, वह निश्चय से विषकुम्भ है क्योंकि उसमें आत्मा का निर्विकल्प अमृत लुटता है।

देखो, यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव की वाणी है। उनकी तो रचना ही अद्भुत है। व्यवहार करते-करते धर्म हो जाएगा - ऐसा मानकर जो राग की मिठास का वेदन करता है, वह जीव तो विष के स्वाद में मिठास मानता है; उसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत का पता नहीं है।

समयसार, मोक्ष अधिकार में शिष्य पूछता है कि प्रभो! आप तो पहले से शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना ही बतलाते हैं किन्तु वहाँ तक तो हम नहीं पहुँच सकते, इसलिए पहले तो हमें यह शुभरागरूप व्यवहार ही करने दीजिये न! व्यवहार करते-करते शुद्धात्मा के आनन्द अनुभवरूप अमृतपद प्राप्त हो जाएगा; इसलिए हमें तो व्यवहार ही अमृत का घड़ा है न?

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते है कि अरे भाई! तेरा माना हुआ व्यवहार तो मात्र विष का ही घड़ा है; उसे तो हम व्यवहार से भी अमृत नहीं कहते। अन्तर्मुख होकर रागरहित शुद्धात्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, वह साक्षात् अमृतकुम्भ है, वही निश्चय से अमृत है और उसके लक्ष्यपूर्वक व्यवहार प्रतिक्रमणादि का जो शुभभाव धर्मी को आता है, उसे व्यवहार से अमृत कहा है; तथापि निश्चय से तो वह भी विषकुम्भ ही है।

अहो! जिसे आचार्यदेव ने विषकुम्भ कहा, उसे जैनशासन कैसे कहा जा सकता है? राग, जैनशासन नहीं है। जैनशासन कहो, जिनेन्द्रदेव का उपदेश कहो, या भगवान की आज्ञा कहो, एक ही बात है। राग करने की आज्ञा, वीतराग भगवान की कैसे हो सकती हैं? वीतराग भगवान, राग को धर्म कैसे कह सकते हैं? जिनशासन में कहीं भी भगवान का ऐसा उपदेश नहीं है कि राग से धर्म होता है। वीतरागीश्रद्धा, वीतरागीज्ञान और वीतरागी आचरणरूप शुद्धभाव को ही जिनशाससन में भगवान ने धर्म कहा है और वही भावी भव -भञ्जक है। पुण्य में भावी भव का भञ्जन करने की शक्ति नहीं है।

जिनशासन के सर्व उपदेश का तात्पर्य

जिनशासन उसे कहा जाता है कि जिसके क्षणमात्र के सेवन से

अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो अर्थात् जीव का परमहित हो। भगवान का उपदेश जीवों की भलाई के लिए है।'पुण्यभाव, धर्म नहीं है; पुण्य से धर्म नहीं होता' – ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, वह भी जीवों की भलाई के लिये ही है। पुण्य से धर्म नहीं होता, इसलिए ऐसा नहीं कहते कि पुण्य को छोड़कर पाप में जाना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान कभी भी नीचे गिरने को नहीं कहते, किन्तु पुण्य, धर्म नहीं है – ऐसा कहकर रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–रमणता करने को कहते हैं अर्थात् ऊपर उठाते हैं। इस प्रकार संसारमार्ग से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में ले जाने के लिए भगवान का उपदेश है।

अहो! भगवान का उपदेश अहितमार्ग से छुड़ाकर हितमार्ग में लगाने का है, तथापि उसका विपरीत अर्थ लेकर 'पुण्य, धर्म नहीं है; इसलिए पुण्य छुड़ाकर पाप करने को कहते है' – ऐसा माननेवाला तो महान स्वच्छन्दी और अनन्त संसार में परिभ्रमण करनेवाला है। ऐसे जीव की तो भगवान का उपदेश सुनने की योग्यता भी नहीं है। भगवान की वाणी तो जीवों के हित के लिये ही है – धर्म की वृद्धि के लिये ही है; जीवों को संसार से छुड़ाकर मोक्ष में ले जाने के लिये ही भगवान का सर्व उपदेश है।

जिज्ञासु–आत्मार्थी तो ऐसा विचार करता है कि अहो! 'पुण्य, धर्म नहीं है' – ऐसा कहकर भगवान मुझे राग से भी पार मेरा चैतन्यस्वभाव बतलाकर उसका अनुभव कराना चाहते हैं। इस प्रकार स्वभावोन्मुख होकर वीतरागीश्रद्धा–ज्ञान प्रगट करके, वह अपना हित साधता है।

हित करना हो तो उसका उपाय जानो!

यहाँ आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि जो रागरहित सम्यग्दर्शन

–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव है, वही जिनशासन है और राग, वास्तव में जैनशासन नहीं है अर्थात् अपनी स्वभावोन्मुखता से जो शुद्धपरिणाम हुए, उसी में तेरा हित है; राग में हित नहीं है। प्रारम्भ में ही राग सर्वथा दूर नहीं हो जाता है। धर्मी को भी राग तो होता है किन्तु प्रथम ऐसी पहिचान करना चाहिए कि यह राग मेरे स्वभाव से भिन्न जाति का है; मेरा हित तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव में ही है। इस प्रकार यथार्थ समझे तो शुद्धभाव प्रगट करने और राग को टालने का उद्यम करे किन्तु राग को ही टालने का उद्यम किसलिए करेगा? इसलिए हे भाई! तेरा हित कहाँ है? – यह तो निश्चित कर! हित का उपाय जाने बिना तूने अनादि से अहित को ही हित मानकर, उसका सेवन किया है किन्तु अभी तक किञ्चित् भी हित नहीं हुआ है; इसलिए यहाँ सन्त तेरे हित का सच्चा उपाय बतलाते हैं।

'हितोपदेश' जिनशासन में ही है

हित का सच्चा उपाय जिनशासन में ही है। हित का कारण जो शुद्धरत्नत्रय, उसका यथार्थ उपदेश जिनशासन में ही हैं और इसलिए जिनशासन की श्रेष्ठता है। साधारणत: दया–दानादि पुण्य का उपदेश तो सभी देते हैं किन्तु वह कहीं हितोपदेश नहीं है। जिनशासन में आत्मा का ज्ञान–आनन्द से परिपूर्ण स्वभाव बतलाकर उसकी श्रद्धा –ज्ञान तथा उसमें लीनता करने का उपदेश है और वही सच्चा हितोपदेश है। पुण्य का शुभराग भी चारित्रमोह का प्रकार है; उस मोह में हित कैसे होगा? वह धर्म कैसे हो सकता है? उसे जैनशासन कैसे कह सकते हैं? जिनशासन में तो मोहरहित शुद्धात्मपरिणाम को ही धर्म कहा है, उसी में हित है और वही जिनशासन है। ●●

प्रवचन - 6

भव के नाश की निःशङ्कता ही धर्म

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव द्वारा जो मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं को जीत ले, वही जैन है।

एक क्षण भी जैनधर्म को अङ्गीकार करे तो अल्प काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त हो - ऐसी जैनधर्म की महिमा है।

राग से पार होकर, ज्ञान के अपूर्व अन्तर उद्यम द्वारा ही जैनधर्म का निर्णय होता है। जिसके अन्तर में राग की किञ्चित् भी मिठास है, वह जीव, वीतरागी जैनधर्म का निर्णय नहीं कर सकता।

धर्म उसे कहते हैं, जिससे भव के नाश की निःशङ्कता हो जाए और भव का भय दूर हो जाए। जहाँ भव के नाश की निःशङ्कता नहीं है, वहाँ धर्म हुआ ही नहीं। पुण्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि भव का नाश कराये.... या निःशङ्कता दे।

[श्रीअष्टप्राभृत, गाथा 83 का मुख्य प्रवचन]

राग से पार चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव-श्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति तथा व्रत,

स्वध्यायादि का शुभराग आता है। जिन्हें अभी वीतरागी देव-गुरु -धर्म के प्रति पूजा-भक्ति, बहुमान का शुभभाव भी नहीं है और मात्र पापभाव में ही डूबे हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है क्योंकि उन्हें न तो आत्मा के हित की गरज ही है और न ऐसा उपदेश सुनने का वे अवकाश निकालते हैं। यहाँ तो जिन्हें आत्मा का हित करने की भावना जागृत हुई है, वीतरागी देव-गुरु-धर्म की ओर भक्ति -बहुमानपूर्वक की वृत्ति है, उन्हें धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाते हैं। जो समझकर अपना हित करना चाहते हैं, उन्हें समझाते हैं।

धर्मी को होनेवाला शुभराग भी धर्म नहीं

देवपूजा, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय आदि गृहस्थों के छह कार्य कहे गये हैं। सम्यक्त्वी धर्मात्मा को उन कार्यों के करने का भाव आता है, उसमें जो शुभराग है, वह पुण्य है; जिनशासन में उस राग को धर्म नहीं कहा है। उस राग के समय धर्मी को अरागी सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धभाव है, वही धर्म है, वही मोक्ष का साधक है और जो राग है, वह तो बाधकभाव है, दोष है। धर्मी, स्वयं उसे धर्मरूप नहीं मानते हैं।

जो राग को धर्म मानता है, उसके तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या है; इसलिए उसे तो एकान्त अधर्म है। धर्म क्या वस्तु है ? उसकी उसे खबर ही नहीं है। जहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभराग को भी पुण्यबन्ध का कारण कहा है, वहाँ मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या ? सम्यग्दृष्टि को भी शुभराग है, वह धर्म का कारण नहीं है तो फिर वह शुभराग, मिथ्यादृष्टि को धर्म का साधन कैसे हो सकता है ? दया-दानादि के शुभपरिणाम से मिथ्यादृष्टि को परित संसार हो जाता है - ऐसा

उपदेश जिनशासन का नहीं है किन्तु मिथ्यादृष्टि का है। उपासकाध्ययन में श्रावकों के आचार के वर्णन में व्रतों का तथा जिनदेव की भक्ति-पूजा, गुरु की उपासना, स्वध्याय, दानादि का जो वर्णन है, वह सब शुभराग भी पुण्य है; धर्म नहीं है। धर्म तो अन्तरस्वभाव में से प्रगट हुआ मोह-क्षोभरहित शुद्धभाव ही है।

ऐसा है जिनशासन!

देखो, यह जिनशासन! चिदानन्दस्वभाव के अन्तर-अनुभव से सम्यग्दर्शन होते ही अनादि कालीन दर्शनमोह का तथा अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्षोभ का नाश हुआ, वहाँ जिनशासन का प्रारम्भ हुआ। मोह तथा क्षोभ के अभावरूप जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धपरिणति हुई, उसका नाम धर्म है। ऐसे शुद्धभाव द्वारा जिनशासन को पहिचानना चाहिए....। जहाँ सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव है, वहीं जिनशासन है।

कौन मानते हैं पुण्य को धर्म ?

इस गाथा के भावार्थ में आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले पण्डित जयचन्दजी कहते हैं कि '**लौकिकजन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभक्रियाओं में और व्रतक्रियासहित है वह जिनधर्म है परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिन भगवान ने इस प्रकार कहा है कि पूजादिक में और व्रतसहित होना है वह तो पुण्य है...।**' पूजा-व्रतादि का शुभराग, वह पुण्य है। लौकिकजन तथा अन्यमती ही उसे धर्म मानते हैं किन्तु जिनशासन में तो उसे धर्म नहीं कहा है।

जीवदया का राग, वह जैनधर्म नहीं; पुण्य है

लौकिकजन तथा अन्यमती ऐसा मानते हैं कि जैनधर्म में हरियाली आदि की दया पालने को कहा है; इसलिए जैनधर्म की श्रेष्ठता है किन्तु वह कहीं जैनधर्म का सच्चा स्वरूप नहीं है। अहिंसादि व्रत में परजीव की दया के शुभभाव के द्वारा बाह्यदृष्टि लोग जैनधर्म को पहिचानते हैं किन्तु वह वास्तव में जैनधर्म नहीं है; वह तो पुण्य है, बन्धन है।

किसी भी परजीव को नहीं मारने के लिये कहा है, वह जिनशासन की महत्ता है - ऐसा मिथ्यादृष्टि मानते हैं। परजीव की दया पालने का शुभराग, धर्म है - ऐसा जो मानते हैं, वे मिथ्यात्व के पोषक हैं क्योंकि राग, जैनधर्म नहीं है; जैनधर्म तो वीतरागभाव है।

जिनशासन का अहिंसाधर्म

लोग कहते हैं कि 'भाई, जगत में जैनियों की अहिंसा बहुत ऊँची है! जैनधर्म तो अहिंसावादी है।' यह सच है, किन्तु अहिंसा का स्वरूप तो इस प्रकार कहा है — 'राग-द्वेष-मोहरूप भावों द्वारा जीव के चैतन्यप्राण का घात होता है; इसलिए वे राग-द्वेष-मोहरूप भाव ही हिंसा है और उन राग-द्वेष-मोहरूप हिंसकभावों की उत्पत्ति ही न होना अहिंसाधर्म है' - ऐसा अहिंसाधर्म है। ऐसा अहिंसाधर्म कब होता है? जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव प्रगट होने पर राग-द्वेष-मोहभावों की उत्पत्ति रुकती है। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागी शुद्धभाव है, वही जिनशासन का अहिंसाधर्म है और ऐसी यथार्थ अहिंसा जिनशासन में ही है; इसलिए जिनशासन की श्रेष्ठता है।

परजीव की दया का शुभराग, वह कहीं अहिंसाधर्म नहीं है। जीवमात्र पर दया के शुभराग को जो अहिंसाधर्म मानता है, वह

जिनशासन को नहीं जानता, वह लौकिकजन अर्थात् मिथ्यादृष्टि है – ऐसा जानना चाहिए।

अहो जैनधर्म! तेरी महिमा!!

अहो! जैनधर्म तो वीतरागी है। ऐसे धर्म के निर्णय में उग्र पुरुषार्थ चाहिए, उग्र ज्ञान चाहिए। राग से पार होकर ज्ञान के अपूर्व अन्तर उद्यम द्वारा ही ऐसे जैनधर्म का निर्णय होता है। एक क्षण भी जैनधर्म को अङ्गीकार करे तो अल्प काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त कर ले – ऐसी जैनधर्म की महिमा है। उसके लिए आत्मा के स्वभाव की आकांक्षा तथा रुचि की तल्लीनता आवश्यक है। जिसके अन्तर में राग की किञ्चित् भी मिठास/महिमा है, वह जीव, वीतरागी जैनधर्म का निर्णय नहीं कर सकता। आँख में किरकिरी तो कदाचित् समा सकती है किन्तु धर्म में राग का अंश भी नहीं समा सकता। **धर्म में राग नहीं और राग में धर्म नहीं – दोनों वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं।** धर्म की भूमिका में राग भी साथ होता है किन्तु जो राग है, वह स्वयं धर्म नहीं है।

जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी मत में तो धर्म है ही नहीं; वे सब तो धर्म से विपरीत हैं। उनकी बात तो दूर रही, परन्तु जिनशासन में भी पुण्य के भाव को भगवान ने धर्म नहीं कहा है। जिनशासन में कहे हुए व्यवहारानुसार भगवान की पूजा-व्रतादि शुभराग करता है और उस राग से ही अपने को धर्मी मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है; उसे जिनशासन के सच्चे स्वरूप का पता नहीं है।

धर्म क्या है ?

जैनधर्म तो शुद्ध आत्मपरिणाम द्वारा रागादिक को जीतनेवाला है

अर्थात् जैनधर्म तो राग का नाशक है; पोषक नहीं है। यदि राग को धर्म कहें तो जैनधर्म, राग का नाशक कहाँ रहा ? जैनधर्म को राग का नाशक कहना और फिर शुभराग को धर्म कहना – यह दो बातें एक-दूसरे से विरुद्ध है। जैनधर्म तो राग के एक अंशमात्र का भी पोषक नहीं है। पहले तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि द्वारा श्रद्धा में राग का अभाव करे और फिर उस चैतन्यपरिणति द्वारा राग को जीते, वह जैनधर्म है किन्तु जो राग के द्वारा स्वयं पराजित हो जाए अर्थात् राग रखकर उस राग द्वारा धर्म मनाये तो वह जैन नहीं है; वह तो राग का पोषक है। वीतरागी रत्नत्रय द्वारा राग-द्वेष-मोह को जीतकर ज्ञानानन्दस्वरूप में रहनेवाला जैन है।

'जो जीते, वह जैन' – अर्थात् क्या ? जीतनेवाला तो आत्मा है। जिन्हें जीतना है, वे राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धभाव है। उन्हें किस प्रकार जीता जा सकता है ?

आत्मा के शुद्धभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर, उसमें लीन होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट होता है और अनादि कालीन राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धभावों का नाश होता है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव द्वारा राग-द्वेष-मोहभाव को जीतनेवाला जैन है, उसी को जिनशासन में धर्म कहा है; इसके अतिरिक्त राग का एक अंश भी रहे, उसे भगवान ने धर्म नहीं कहा है।

सर्व प्रथम पर से भिन्न तथा अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से एकरूप – ऐसे शुद्धात्मा की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने से अनादि कालीन मिथ्यात्वरूप मोह और अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का नाश

होता है और तभी से आत्मा में जैनधर्म का प्रारम्भ होता है।

धर्म तो मोह–क्षोभरहित – ऐसे शुद्धपरिणाम हैं। आत्मा के शुद्धपरिणामों के अतिरिक्त बाह्य में अन्यत्र कहीं धर्म नहीं है और न दूसरा कोई मोक्ष का कारण है। मोह–क्षोभरहित अर्थात् मिथ्यात्व एवं अस्थिरता से रहित जीव के परिणाम, वह धर्म है अर्थात् सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव, वह धर्म है।

सन्तों के कथन में जहाँ देखो, वहाँ एक ही धारा है। प्रवचनसार की सातवीं गाथा में भी कहा है कि – **चारित्तं खलु धम्मो** अर्थात् चारित्र ही धर्म है; धर्म, वह साम्य है और साम्य, जीव के मोह –क्षोभरहित परिणाम हैं। यहाँ भी कहते हैं कि जीव के मोह–क्षोभरहित परिणाम ही धर्म है; बीच में राग हो, वह धर्म नहीं है।

एक 'पापपरिणामी' अधर्मी, दूसरा 'पुण्यपरिणामी' अधर्मी

जिस प्रकार हिंसादिकभाव, पाप है, धर्म नहीं है; उसी प्रकार अहिंसादिक, शुभभाव पुण्य है; धर्म नहीं है। जो तीव्र हिंसा, विषय –कषाय, कुदेव–कुगुरु का सेवन आदि पापभावों में ही लीन हैं, वे तो 'पापपरिणामी अधर्मी' हैं और जो अहिंसा, व्रत, पूजादि शुभभावों को धर्म मानकर, उन्हीं में लीनरूप वर्तते हैं, वे 'पुण्य–परिणामी अधर्मी' हैं; दोनों अधर्मी है। एक पापपरिणामों में डूबे हुए और दूसरे पुण्यपरिणामों में अटके हुए हैं। जो जीव, पुण्य–पापरहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा करता है–प्रतीति करता है–अनुभव करता है, वहीं धर्मात्मा है और वही संसार से पार होता है।

जिससे भव का अन्त हो, वही धर्म

धर्म उसे कहते हैं कि जिससे भव के नाश की निःशङ्कता हो

जाए.... और भव का भय दूर हो जाए। जहाँ भव के नाश की निःशङ्कता नहीं है, वहाँ धर्म हुआ ही नहीं। वह निःशङ्कता कौन देता है? आत्मा के भवरहित चैतन्यस्वभाव को समझ ले तो भव के नाश की निःशङ्कता अपने आत्मा में से ही प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त पुण्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि भव का नाश करा दे.... अथवा निःशङ्कता दे।

अभी तो, जो आत्मा को नहीं मानते, जिन्हें पाप का भय नहीं है, परलोक की श्रद्धा नहीं है और मात्र पाप में ही डूब रहे हैं, वे तो पापिष्ठ हैं – ऐसे जीवों की तो बात ही क्या? किन्तु जो कुछ आस्थावान हैं, आत्मा को मानते हैं, परलोक को मानते हैं तथा पाप से डरकर पुण्य में धर्म मानकर वहीं रुक गये है और रागरहित शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं करते हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि अधर्मी ही हैं; वे भी चार गति के भ्रमण से नहीं छूटते। यहाँ तो अपूर्व धर्म की बात है कि जिससे भव का अन्त आये और मुक्ति प्राप्त हो।●●

प्रवचन - 7

जिनशासन का रहस्य

तीर्थङ्कर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जो जिनशासन कहा है, वही यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने घोषित किया है।

धर्म तो आत्मा का अन्तर्मुखीभाव है.... अहो! अन्तर्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का निरीक्षण करो!

हे भाई! तू धैर्य रखकर सुन.... यह तेरे हित की बात है। तेरा श्रेय किसमें है? वह जानकर तू उसका आचरण कर।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, तीन भुवन में साररूप है, वही श्रेयरूप है, उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है; इसलिए जिनशासन की श्रेष्ठता है। उसी की उपासना करने का जिनशासन में उपदेश है।

जो राग को धर्म मानता है, वह वीतरागी जैनधर्म का भक्त नहीं है; वह तो जैनधर्म का विरोधी है।

[श्रीअष्टप्राभृत, गाथा 83 का मुख्य प्रवचन]

सारभूतभाव

यह 'भावप्राभृत' की वचनिका हो रही है।

भावप्राभृत अर्थात् भावों में सार; जीव के भावों में सारभूतभाव कौन-सा है? अर्थात् मोक्ष के कारणरूप भाव कौन-सा है, वह यहाँ बतलाते हैं।

इस भावप्राभृत की कुल 165 गाथाएँ हैं, उनमें से यह 83 वीं गाथा बिलकुल बीच की है। 82 गाथाएँ इसके आगे रहीं और 82 पीछे। इस बीच की गाथा में आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से जिनशासन का रहस्य समझाया है।

जीव के भाव तीन प्रकार के हैं - (1) अशुभ, (2) शुभ, और (3) शुद्ध। मिथ्यात्व तथा हिंसादिकभाव तो अशुभ हैं, वे तो पापबन्ध का कारण हैं तथा दया-पूजा-व्रतादि के भाव, वे शुभ हैं, वे पुण्यबन्ध का कारण हैं; वे कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषरहित — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धभाव हैं, वह धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और जिनशासन में भगवान ने ऐसे शुद्धभाव को ही सारभूत कहा है।

वीतरागी सन्त की वीतरागी वाणी

अनन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जो जिनशासन कहा है, वही यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने घोषित किया है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व, वे इसी भरतक्षेत्र में हो गये हैं.... वे यहाँ से महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थङ्कर श्रीसीमन्धर भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान वर्तमान में भी वहाँ विराज रहे हैं और लाखों-करोड़ों वर्ष तक रहेंगे, क्योंकि उन भगवान की आयु एक करोड़ पूर्व की है। ऐसे जिनेश्वर भगवान की दिव्यध्वनि, महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् सुनकर आचार्यदेव यहाँ आये और उन्होंने इन समयसारादि महान शास्त्रों की

रचना की। उन शास्त्रों में जिनेश्वर भगवन्तों ने क्या कहा है, वह उन्होंने घोषित किया है।

इस गाथा में कहते हैं कि जिनशासन में जिनेन्द्र भगवन्तों ने व्रत-पूजादिक शुभराग को पुण्य कहा है और आत्मा के मोह-क्षोभरहित शुद्धपरिणाम को धर्म कहा है। देखो, यह वीतरागी सन्त की वीतरागी वाणी! वीतरागीभाव ही जैनधर्म है; राग, वह जैनधर्म नहीं है।

पुण्य और धर्म, दोनों वस्तुओं को भगवान ने जिनशासन में भिन्न-भिन्न कहा है। पुण्य तो आस्रव-बन्धरूप है अर्थात् संसार का कारण है और धर्म, संवर-निर्जरारूप है, वह मोक्ष का कारण है। इस प्रकार पुण्य और धर्म के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है। पाप, पृथक् वस्तु है; पुण्य, दूसरी वस्तु है और धर्म, तीसरी वस्तु है। पुण्य-पाप, यह दोनों बहिर्मुखीभाव हैं और धर्म तो आत्मा का अन्तर्मुखी भाव है। अहो! अन्तर्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का निरीक्षण करो....। चैतन्यस्वभाव का निरीक्षण करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपरिणाम होते हैं, उसी को भगवान ने धर्म कहा है। यही बात समयसार में कही है कि जो शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वह समस्त जिनशासन का अनुभव करता है।

लोकोत्तर जिनधर्म.... और लौकिकजनों का भ्रम

देखो, यह लोकोत्तर जिनधर्म का स्वरूप! पुण्य को धर्म कहना तो लौकिकजनों की उक्ति है। बस, यह 'लौकिकजन' शब्द कुछ पण्डितों को खटकता है। लोकोतर जिनमार्ग के प्रति लौकिकजनों की कैसी मान्यता है? - यह बात स्वर्गीय पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भावार्थ में स्पष्ट की है। लोकोत्तर जिनेन्द्र भगवान तो

कहते हैं कि पुण्य, वह धर्म नहीं है; सम्यग्दृष्टि आदि भी लोकोत्तर दृष्टिवाले हैं और वे भी ऐसा ही मानते हैं।

लौकिकजन अर्थात् जो मात्र व्यवहार को ही धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीव, व्रत-पूजादि के शुभराग को धर्म मानते हैं किन्तु वह वास्तव में धर्म नहीं है। धर्म तो वह है कि जिससे जन्म-मरण का नाश हो। ऐसा धर्म तो मोह-क्षोभरहित जीव का शुद्धपरिणाम है। ऐसे शुद्ध आत्मपरिणाम को धर्म मानना ही यथार्थ है तथा वही निश्चय है और पुण्य को धर्म कहना तो मात्र लौकिकजनों का कथन है। उस लोकोक्ति को व्यवहार कहा है। जो उस लौकिक कथन को ही यथार्थ मान लेते हैं अर्थात् रागरहित निश्चयधर्म का स्वरूप तो समझते नहीं हैं और शुभराग को उपचार से धर्म कहा, उसी को सचमुच धर्म मान लेते हैं, वे लौकिकजन हैं; वे वास्तव में जैनमती नहीं, किन्तु अन्यमती हैं।

लौकिकजन तथा अन्यमती, व्रत-पूजादि शुभराग को जिनधर्म मानते हैं। प्रतिमा कितनी ?, व्रत कितने ? इस प्रकार मात्र शुभराग से अज्ञानी जिनधर्म का माप निकालते हैं। व्रत, प्रतिमा आदि का शुभराग ही जिनधर्म है - ऐसा लौकिकजन तथा अन्यमती मानते हैं किन्तु लोकोत्तर जैनमत में ऐसा नहीं है। जिनशासन में तो भगवान ने वीतरागभाव को ही धर्म कहा है। चिदानन्द आत्मस्वभाव को अन्तर्मुख श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसमें लीनतारूप शुद्धभाव ही जैनधर्म है, उसी से जन्म-मरण का अन्त आकर मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही ज्ञेयरूप है।

'यः श्रेयान् तं समाचर'

'पुण्य से धर्म नहीं होता' - यह बात कुछ लोगों को नयी मालूम

होती है और यह सुनते ही वे भड़क उठते हैं कि 'अरे! क्या पुण्य, धर्म नहीं है! और पुण्य को धर्म माननेवाला लौकिकजन!!' हाँ भाई – ऐसा ही है। तू धैर्यपूर्वक सुन तो सही! यह तेरे हित की बात है। जैनधर्म क्या वस्तु है, उसकी बात तूने अभी सुनी ही नहीं है, इसलिए तुझे नयी मालूम होती है लेकिन तीर्थङ्कर भगवन्त, अनादि काल से यही कहते आ रहे हैं और उसी प्रकार साधना कर-करके अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। हजारों वर्ष से सन्त यह बात कहते ही आये हैं; दो सौ वर्ष पहले जयपुर के पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी यही बात स्पष्ट की है और आज भी ढिंढोरा पीटकर यही बात कही जा रही है। भविष्य में भी सन्त यही कहेंगे। त्रिकाल एक ही प्रकार का जैनधर्म है।

अहो! यह परमसत्य बात है परन्तु यह बात स्वीकार करने से आज तक की पण्डिताई पर पानी फिर जाता है; इसलिए कई लोगों के मन में उथल-पुथल मच जाती है किन्तु यदि आत्मा का हित करना हो, श्रेय करना हो तो इसे समझना अनिवार्य ही है।

भाई! अपने आत्महित के लिए तू इसे समझ! बाहर की सेठियाई और शास्त्रों की पण्डिताई तो अनन्त बार मिली, उसमें तेरा कोई हित नहीं है। यह चैतन्यस्वभाव और उसका वीतरागधर्म क्या है ? – उसे समझ, उसी में सच्चा पाण्डित्य है। इसलिए हे वत्स! तेरा श्रेय किसमें है ? – उसे जानकर तदनुसार आचरण कर।

जैनधर्म कोई कुलधर्म नहीं, वह तो शुद्धभाव है।

कोई कहे कि 'जिसने जैनकुल में जन्म लिया, उसे भेदज्ञान तो हो ही गया' – तो यह बात मिथ्या है। भेदज्ञान कैसी अपूर्व वस्तु है ?

इसका उसे पता नहीं है और कुलधर्म को ही जैनधर्म मानता है। जैनकुल में जन्म लिया; इसलिए भले ही जैन, पण्डित या त्यागी नाम धारण कर लें किन्तु मोहादि रहित यथार्थ जैनधर्म क्या वस्तु है ? – उसे जो नहीं समझते और राग को ही धर्म मान रहे हैं, वे वास्तव में लौकिकजन ही हैं। लौकिकजनों की ओर उनकी मान्यता में कोई अन्तर नहीं है।

धर्म की भूमिका में शुभभाव भले ही आये, किन्तु वह धर्म नहीं है और वह करते-करते धर्म हो जाएगा – ऐसा भी नहीं है। राग को कहीं धर्म कहा हो तो वहाँ उसे आरोपित कथन, उपचार कथन, लौकिक रूढ़ि का कथन समझना चाहिए, किन्तु उस राग को वास्तव में धर्म नहीं समझना चाहिए। धर्म तो उस समय के सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव को ही समझना चाहिए।

धर्म का एक ही प्रकार

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प प्रतीतिरूप एक ही प्रकार का है। सम्यग्दर्शन को दो प्रकार का अर्थात् सराग तथा वीतराग, कहना सो व्यवहारमात्र है; उसी प्रकार मोक्षमार्ग भी शुद्धभावरूप एक ही प्रकार का है। एक शुद्धभावरूप और दूसरा शुभरागरूप – ऐसे दो प्रकार के मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग कहो या धर्म कहो, वह एक ही प्रकार का है। मोह-क्षोभरहित – ऐसा जो वीतरागी शुद्धभाव, वही धर्म है और जो राग है, वह धर्म नहीं है।

शुद्धता के साथ वर्तते हुए व्रतादि शुभपरिणामों को भी कहीं उपचार से धर्म कहा हो, वहाँ उस उपचार को ही सत्य मान ले अर्थात् राग को ही धर्म मानले तो वह मिथ्यादृष्टि है; उसे यहाँ

लौकिकजन तथा अन्यमती कहा है। साधकजीव को शुभराग के समय हिंसादि का अशुभराग दूर हुआ, उस अपेक्षा से तथा साथ ही रागरहित ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक वीतराग अंश भी वर्तते हैं, उस अपेक्षा से उसके व्रतादि को भी उपचार से धर्म कहा जाता है किन्तु ऐसा उपचार कब ? कि जब साथ में अनुपचार अर्थात् निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म वर्तता हो तब। परन्तु यहाँ तो उपचार की बात नहीं है; यहाँ तो पहले यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की बात है।

शुद्धभाव को ही श्रेयरूप जानकर उसका आचरण कर!

अशुभपरिणाम तो पाप का कारण है; शुभपरिणाम, पुण्य का कारण है और शुद्धपरिणाम, वह धर्म है, वही मोक्ष का कारण है। इसलिए हे जीव! तू उस शुद्धपरिणाम को ही सम्यक् प्रकार से आदर और शुभ-अशुभराग का आदर छोड़। पहले आचार्यदेव ने ७७ वीं गाथा में कहा था कि हे भव्य! जीव के परिणाम अशुभ, शुभ और शुद्ध - ऐसे तीन प्रकार के हैं। उनमें शुद्धपरिणाम तो आत्मा के स्वभावरूप है। उन तीन प्रकार के भावों में से जिसमें श्रेय हो, उसे तू समाचर! अर्थात् शुद्धभाव में ही मेरा श्रेय है - ऐसा निर्णय कर और उसी को मोक्ष का कारण जानकर तू आचर।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वही तीन भुवन में साररूप है और उसकी प्राप्ति जिनशासन में ही होती है; इसलिए जिनशासन की श्रेष्ठता है। पुण्य के द्वारा जिनशासन की श्रेष्ठता नहीं है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य भी अपूर्व होता है, तथापि उस पुण्य की जिनशासन में महत्ता नहीं है; जिनशासन में तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों

की ही महत्ता है तथा उसी की उपासना करने का उपदेश है।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करता है, वही जिनशासन की आराधना करता है। जो राग को धर्म मानता है, वह जिनशासन का भक्त नहीं, किन्तु विराधक है; इसलिए हे भाई! तू अपने हित के लिए शुद्धभाव को ही धर्म जानकर, शुद्धभाव प्रगट कर। शुद्धभाव के बिना व्रत-तप-पूजा सब निष्फल हैं, उनमें तेरा श्रेय नहीं है।

धर्मी को पुण्यभाव.... किन्तु पुण्य को धर्म माननेवाला धर्मी नहीं

'**पूजादिषु पुण्यं**' - ऐसा कहा। वहाँ पूजा आदि कहने से देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य, स्वाध्याय, जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा आदि लेना चाहिए। उन सब में देव-गुरु-शास्त्र की ओर शुभवृत्ति है; इसलिए उस राग में पर की ओर का झुकाव है, उसमें स्व की एकता नहीं है; इसलिए वह धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है।

देखो, दो हजार वर्ष पहले गिरनार पर धरसेनाचार्यदेव ने पुष्पदन्त -भूतबलि मुनियों को भगवान की परम्परा का अपूर्व ज्ञान दिया और उन पुष्पदन्त-भूतबलि आचार्यों ने उस श्रुत को षट्खण्डागमरूप से गूँथा, पश्चात् चतुर्विध सङ्घ ने श्रुतभक्ति का महान महोत्सव किया। इस प्रकार धर्मात्मा को श्रुत की भक्ति का भाव आता है तथा मुनिवरों को आहार देने का भाव, जिनमन्दिर निर्माण कराने का भाव और उसकी प्रतिष्ठा का भाव, भक्ति का भाव, जिस भूमि में तीर्थङ्करों - सन्तों ने विचरण किया, उसकी यात्रा का भाव इत्यादि शुभभाव भी होते है किन्तु धर्मी उसे धर्म नहीं मानते, क्योंकि उस शुभभाव से स्वभाव के साथ एकता नहीं होती; अपितु परोन्मुखता की वृत्ति होती

है, उससे पुण्यबन्ध होता है किन्तु मोक्ष नहीं होता। उस समय धर्मात्मा को शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना शुद्धभाव वर्तता है, उतना धर्म है।

धर्म के भाव में बाह्य का – पर का अवलम्बन नहीं होता; उसमें तो एक शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है। राजा या रङ्क सभी के लिए धर्म का यह एक ही मार्ग है। बड़ा राजा हो या रङ्क हो, किसी को भी पुण्य से धर्म नहीं हो सकता। किसी भी जीव के लिए अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान तथा एकाग्रतारूप शुद्धपरिणाम ही धर्म है और पूजा-व्रतादिक का शुभराग, बन्ध का ही कारण है; वह धर्म नहीं है और धर्मी को उसका आदर नहीं है। जिसे राग का आदर है, वह धर्मी नहीं है। राग के फल में कहीं स्वभाव के साथ एकता नहीं होती; उसके फल में तो स्वर्गादिक का बाह्य संयोग प्राप्त होता है; इसलिए जिसे पुण्य की प्रीति है, उसे भोग की प्रीति है और वही पुण्य को धर्म कहता है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने तो रागादिरहित शुद्धभाव को ही धर्म कहा है।

जिनशासन में धर्म का स्वरूप

'**मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्म**' अर्थात् मोह-क्षोभरहित – ऐसा आत्मा का परिणाम, सो धर्म है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में कहा है। जिसे सात तत्त्वों की विपरीत मान्यता है, जो कुदेव-कुगुरु को मानता है, उसे तो तीव्र मिथ्यात्वरूप मोह है और क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेषादिभावों द्वारा चैतन्य का उपयोग डाँवाडोल-अस्थिर होता है; इसलिए वह क्षोभ है। ऐसे मोह तथा क्षोभरहित जो सम्यक्त्व और आत्मस्थिरतारूप शुद्धपरिणाम हैं, वही धर्म है। आत्मा के साथ उनकी एकता होने से, वे ही वास्तव में आत्मा के परिणाम हैं।

प्रथम चिदानन्दस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा द्वारा विपरीतश्रद्धारूप दर्शनमोह का अभाव होने से सम्यग्दर्शनरूप शुद्ध आत्मपरिणाम प्रगट होते हैं, वह धर्म है; तत्पश्चात् स्वरूप में एकाग्र होकर उपयोग स्थिर होने पर क्रोधादिरहित वीतरागी शुद्धपरिणाम प्रगट होते हैं, वही धर्म है – ऐसा जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

मैं परजीव के कार्य कर सकता हूँ; दया के शुभपरिणामों द्वारा मैं दूसरे जीव को मरने से बचा सकता हूँ – जिसकी ऐसी विपरीत मान्यता है, उसे तो तीव्रमोह है, उसे धर्म नहीं होता। परजीव को मारने या बचाने के क्रिया मैं नहीं कर सकता; वह उसके अपने ही कारण मरता या जीता है, मैं तो ज्ञान हूँ; शुभवृत्ति भी मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है – ऐसे यथार्थ ज्ञानपूर्वक धर्मी को दया-अहिंसादि की जो शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे भी सर्वज्ञ भगवान ने धर्म नहीं कहा है क्योंकि उस शुभवृत्ति से भी उपयोग क्षोभित होता है और स्वरूप-स्थिरता में भङ्ग पड़ता है।

चैतन्य के आनन्द की लीनता छोड़कर, किसी भी परपदार्थ के आश्रय से जो भाव होता है, वह धर्म नहीं है। यदि पूजा या व्रतादि का शुभराग धर्म हो, तब तो सिद्धदशा में भी वह भाव बना रहना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि राग तो सिद्धदशा में बाधक है, उसका अभाव होने पर ही केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होती है; इसलिए सर्व परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष, शुभराग से भी पार, शुद्ध चैतन्यपद की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई जैनधर्म नहीं है। इस

प्रकार हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभावों को ही अपने परम श्रेय का कारण जानकर, सर्व उद्यम से उसकी उपासना कर! क्योंकि धर्म, आत्मा का अवलम्बन ही है; राग का अवलम्बन नहीं है।

हे जीव! धर्म का कारण अन्तर में शोध!

प्रश्न : पुण्यभाव धर्म तो नहीं है किन्तु धर्म का कारण तो है न?

उत्तर : अरे भाई! पुण्य तो राग है और धर्म तो आत्मा का वीतरागभाव है; अतः वह राग, आत्मा के वीतरागी धर्म का कारण कैसे हो सकता है? वीतरागता का कारण राग नहीं हो सकता। पुण्यभाव से चैतन्यस्वभाव के साथ एकता नहीं होती, किन्तु उससे तो क्षोभ होता है और बाह्य में जड़ का संयोग मिलता है; इसलिए वह पुण्य, धर्म का कारण नहीं है।

प्रश्न : पुण्य, परम्परा से धर्म का निमित्त तो है न? वह व्यवहार कारण तो है न?

उत्तर : भाई! पुण्य तो विकार है, वह धर्म का कारण है ही नहीं। पहले, धर्म का सच्चा कारण तो शोध! धर्म का निश्चयकारण जो रागरहित चिदानन्दस्वभाव है, उस पर तो जोर नहीं देता और पुण्य को व्यवहारकारण कह-कहकर उस पर जोर देता है तो तुझे वास्तव में स्वभाव की रुचि नहीं है किन्तु राग की ही रुचि है।

'किसी प्रकार से राग से धर्म हो' - ऐसी तेरी रागबुद्धि है किन्तु रागरहित चिदानन्दस्वभाव पर तेरी दृष्टि नहीं है और उसके बिना धर्म नहीं होगा। तुझे राग की रुचि है; इसलिए तुझे तो धर्म है ही नहीं

तो फिर धर्म का निमित्त किसे कहना? जो जीव, राग की रुचि छोड़कर, स्वभाव की रुचि द्वारा सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट करता है, उसके लिए दूसरे में धर्म के निमित्तपने का आरोप आता है किन्तु अज्ञानी को तो धर्म है ही नहीं; इसलिए उसके राग में तो धर्म के निमित्तपने का उपचार भी नहीं होता।

अहो! अरागी धर्म को राग का अवलम्बन ही नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शनादि धर्म का अवलम्बन ले, (अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन ले) तभी धर्म होता है। अनादि से जीव ने बाह्य अवलम्बन में ही धर्म माना है किन्तु अपने आत्मा का अवलम्बन कभी नहीं किया। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि उसका अवलम्बन करने से भव का नाश हो जाता है। अहो! अन्तर में ऐसा स्वभाव पड़ा है, वह तो अज्ञानी को दिखाई नहीं देता, ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करूँ तो धर्म होगा - ऐसा अन्तरङ्ग कारण तो उसके लक्ष्य में नहीं आता और 'पुण्य, व्यवहारकारण तो है न!' - इस प्रकार राग से दृष्टि नहीं हटती।

चिदानन्दस्वभाव रागरहित है, उसकी रुचि करके उस ओर उन्मुख न होकर, राग की रुचि करके उसी में लीन वर्तता है; इसलिए जीव, अनन्त काल से संसार में भटक रहा है। 'चैतन्यस्वभाव ही मैं हूँ, राग मैं नहीं हूँ' - इस प्रकार एकबार भी स्वभाव तथा राग के बीच दरार डालकर अन्तर्स्वभावोन्मुख हो जाए तो अल्प काल में भव का नाश होकर मुक्ति प्राप्त कर ले। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तू ऐसे शुद्धस्वभावरूप जैनधर्म की रुचि कर और राग की रुचि छोड़। जिसे राग की, पुण्य की रुचि है; उसे जैनधर्म की रुचि नहीं है। ●●

प्रवचन - 8

सर्वज्ञ की आज्ञा... सन्तों का आदेश

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध वीतरागीभाव ही सच्चा धर्म है और उसी की प्राप्ति का जिनशासन में उपदेश है - ऐसा जैनधर्म ही भव का नाशक और मोक्ष का दाता है; इसलिए हे भव्य जीवों! तुम आदरपूर्वक ऐसे जैनधर्म का सेवन करो....!

शुद्धपरिणाम, वह आत्मा का धर्म है, उसमें सम्यगदर्शन -ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं किन्तु राग उसमें नहीं आता। यह शुद्ध रत्नत्रयरूप वीतरागीभाव ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है, वही जिनशासन है, वही सर्वज्ञनाथ की आज्ञा है और वही सन्तों का आदेश है.... इसलिए उसी को श्रेयरूप जानकर, उसकी आराधना करो। *[श्रीभावप्राभृत, गाथा 83 पर प्रवचन]*

जैनधर्म कहाँ रहता होगा ?

जैनधर्म अर्थात् आत्मा का सच्चा धर्म। आत्मा का यथार्थ स्वभाव ही जैनधर्म है। जिसके ग्रहण से अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है - ऐसा आत्मा का शुद्धभाव, वह जैनधर्म है। जैनधर्म कहाँ रहता होगा ?

जैनधर्म आत्मा के शुद्धभाव में रहता है; इसके अतिरिक्त शुभाशुभभाव में या जड़ के भाव में जैनधर्म नहीं रहता।

जड़भाव में धर्म-अधर्म नहीं

प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने 'भाव' होते हैं। जड़ में भी उसका जड़भाव होता है। 'जड़भाव से जड़ परिणमे, चेतन चेतनभाव' - इस प्रकार दोनों पदार्थों में अपने-अपने भाव हैं। अब, कौन-सा भाव, धर्म है, वह यहाँ बतलाना है।

जड़-पुद्गल के अपने स्पर्शादिभाव होते हैं। पुद्गल में एक पृथक् परमाणु हो, उसे शुद्ध कहा जाता है किन्तु उससे कहीं उसे सुख नहीं होता तथा पुद्गल में स्कन्ध, वह विभावपर्याय है किन्तु उस विभाव से कहीं उसे दुःख नहीं है; इस प्रकार पुद्गल तो स्वभाव में हो या विभाव में हो, उसे सुख-दुःखरूप भाव नहीं है; इसलिए उस जड़ के भाव में कहीं धर्म या अधर्म नहीं है।

जीव का शुद्धभाव ही जैनधर्म

अब, यह जीव के भावों की बात है। जीव के भाव तीन प्रकार के हैं - अशुभ, शुभ, और शुद्ध। मिथ्यात्व, हिंसा आदि भाव हैं, वे अशुभ है। पूजा-व्रतादि, पुण्यभाव हैं, वे शुभ हैं किन्तु यह अशुभ और शुभ, दोनों भाव पर के आश्रय से होते हैं; इसलिए विभावरूप हैं, अशुद्ध हैं; आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं; इसलिए उन भावों में धर्म नही है।

वे विभावभाव आकुलतारूप होने से जीव को दुःखरूप है और अपने स्वभावाधीन प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव हैं, वे आत्मा के स्वभावरूप हैं, उनमें रागादि का अभाव है; अनाकुल

शान्तिस्वरूप होने से वे भाव जीव को सुखरूप है; इसलिए उन सुखरूप शुद्धभावों की उपादेयता बतलाकर यहाँ कहा है कि शुद्धभाव ही जैनधर्म है, वही आदरणीय है और पुण्य, जैनधर्म नहीं है।

धर्म-अधर्म, जीव के भावों से ही है

जीव को गुण-दोष का कारण अपने भाव हैं। गुण-दोष अर्थात् धर्म-अधर्म, जीव को अपने भाव से ही होते हैं; इसलिए हे जीव! तू अपने भावों को पहिचान! कौन-सा भाव तुझे हितरूप है और कौन-सा अहितरूप है? - यह जानकर हितरूप भावों को ग्रहण कर और अहितरूप भावों को छोड़! इसके अतिरिक्त शरीरादि तो जड़ हैं, उस जड़ में कहीं तेरा धर्म या अधर्म नहीं है। पुद्गल में उसका जड़रूपभाव है किन्तु सुख-दुःख के वेदनरूप भाव उसमें नहीं है। पुद्गल में सुगन्धपर्याय हो या दुर्गन्धपर्याय हो, उससे कहीं उसे सुख या दुःख नहीं है तथा उससे जीव को सुख-दुःख हो - ऐसा भी नहीं है।

जीव को जड़ के कारण सुख-दुःख नहीं होते, किन्तु अपने भाव से ही सुख-दुःख होते हैं। सुख-दुःखरहित - ऐसे पुद्गल द्वारा जीव अपने को सुखी-दुःखी मानता है - यह कैसी भ्रमणा है!! शरीर की निरोग अवस्था से जीव को सुख हो और रोग अवस्था से दुःख हो - ऐसा नहीं है किन्तु यह वस्तु मुझे अच्छी और यह बुरी - ऐसा जो राग-द्वेषरूप विभाव है, वही दुःख है। पर के प्रति अशुभराग हो या शुभराग हो, उन दोनों में आकुलता है, दुःख है, उसका फल बन्धन है; उसमें धर्म नहीं है। निराकुल शान्तपरिणामरूप सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह सुख है, वही धर्म है और उसका फल मुक्ति है। इस प्रकार जीव के भावों से ही भगवान ने धर्म-अधर्म कहा है।

उसमें भी जीव के सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही जिनशासन में धर्म कहा है; उसके बदले जो शरीर की क्रिया आदि जड़ के कारण धर्म मानते हैं, वे तो जड़ जैसे ही हैं, उनकी तो बात ही क्या? किन्तु जो शुभराग से धर्म मनाते हैं, उन्हें भी जैनशासन का पता नहीं है।

साधकदशा में जितना रागांश है, वह बन्ध का ही कारण है। राग तो आस्रव और बन्ध का कारण है, उसके द्वारा किञ्चित्मात्र संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं होता। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से वीतरागभावरूप शुद्धभाव प्रगट हो, वही धर्म है।

देखो! यह जिनशासन में धर्म की रीति!! ऐसा जैनधर्म ही भवभ्रमण का अन्त कर देता है, इसके अतिरिक्त व्रत-पूजादि के शुभाभाव को लौकिकजन तथा अन्यमती धर्म कहते हैं परन्तु उसमें कहीं भवभ्रमण का अन्त करने की शक्ति नहीं है; इसलिए जिसे भवभ्रमण से छूटना हो, उसे तो ऐसे शुद्धभाव को ही जैनधर्म जानकर, उसका सेवन करना चाहिए।

जो व्रत-पूजादि शुभराग को धर्म कहते हैं, वे लौकिकजन/अन्यमती हैं, उन्हें लोकोत्तर जैनधर्म का पता नहीं है। लोकोत्तर दृष्टिवाले जिनेन्द्रदेव तथा धर्मात्मा सन्त, राग को धर्म नहीं मानते; अपितु शुद्धपरिणाम को ही धर्म मानते हैं। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि से जो मार्ग निकला और उसे झेलकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि सन्तों ने जो मार्ग बतलाया, वही यह मार्ग है, यही जैनशासन है; इससे विरुद्ध माननेवाले सभी अन्यमत हैं।

शास्त्रों का तात्पर्य.... सन्तों का आदेश

आत्मा का ज्ञान-दर्शनस्वभाव है। वे ज्ञान-दर्शनपरिणाम अपने

स्वभाव में स्थिर रहें, इसका नाम धर्म है। शुभ–अशुभराग के कारण तो ज्ञान–दर्शन का उपयोग चञ्चलरूप होकर क्षोभ को प्राप्त होता है; इसलिए किसी प्रकार के रागादिभाव, धर्म नहीं है। राग–द्वेषरहित होकर ज्ञान–दर्शन अपने स्वभाव में निश्चल रहें, वह धर्म है। आत्मा, ज्ञान –दर्शनस्वभावी है। वे ज्ञान–दर्शनपरिणाम, राग–द्वेष–मोह द्वारा मलिन न हों – क्षोभित न हों – अस्थिर न हों और राग–द्वेष–मोहरहित होकर, अपने शुद्धस्वरूप में ही स्थिर रहे – ऐसे शुद्धपरिणाम, वह आत्मा का धर्म है; समयग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, तीनों इसमें आ जाते हैं किन्तु राग उसमें नहीं आता। यह शुद्ध रत्नत्रयरूप वीतरागभाव ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है, यही जिनशासन है और इसी को सन्त धर्म कहते हैं; बीच में राग रह जाए, वह तात्पर्य नहीं है, वह जिनशासन नहीं है, उसे सन्त, धर्म नहीं कहते।

सम्यक्त्वी का पुण्य भी धर्म नहीं

प्रश्न : मिथ्यादृष्टि का पुण्य तो धर्म नहीं है किन्तु सम्यक्त्वी का पुण्य तो धर्म है न?

उत्तर : पुण्य, मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, वह कोई धर्म नहीं है; वह तो आस्रव है। समयसार में कहते हैं कि – छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिङ्गी सन्त को व्यवहारप्रतिक्रमणादि का जो शुभविकल्प है, वह निश्चय से विष है। यदि वह धर्म होता, अमृत होता तो मुनिवर उसे छोड़कर निर्विकल्प कैसे होते? इसलिए समझो कि धर्मी का राग भी पुण्य है; धर्म नहीं है। धर्म तो वीतरागी शुद्धभाव ही है। अहो, एक ही नियमरूप और एक ही धाराप्रवाहरूप जैनमार्ग त्रिकाल चल रहा है।

धर्म की नींव की बात

अहो! एक बार ऐसी दृष्टि तो करो.... आत्मा का यथार्थस्वभाव क्या वस्तु है? – उसे लक्ष्य में तो लो! मैं रागरहित चिदानन्दस्वभावी हूँ – ऐसा आत्मस्वभाव का यथार्थ लक्ष्य होगा तो उस जाति का पुरुषार्थ बढ़ेगा, किन्तु राग को ही हितरूप मान ले तो राग से पृथक् होकर वीतरागता का पुरुषार्थ, वह किसके लक्ष्य से करेगा? इसलिए यह धर्म की नींव की बात है।

....वीतरागभाव ही भवनाशक धर्म है

सम्यक्त्वी की दृष्टि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर ढल गयी है; राग के एक अंश का भी उसकी दृष्टि में स्वीकार नहीं है – ऐसी दृष्टि के बलपूर्वक सम्यक्त्वी को शास्त्र स्वाध्यायादि शुभ प्रसङ्ग के समय, अशुभ की निर्जरा होती है, इस अपेक्षा से सम्यक्त्वी को स्वाध्यायादि शुभ से भी निर्जरा होना कहा है और उपचार से उसे धर्म भी कहा जाता है किन्तु जिसकी दृष्टि ही राग पर है, जो राग को ही धर्म या संवर–निर्जरा का कारण मानता है, उसे तो शुभराग के समय भी एकान्त अधर्म है; धर्म का अंश भी उसे नहीं है।

देखो! सम्यक्त्वी को भी जो राग है, वह कहीं धर्म नहीं है। राग के समय उसे जो अरागी दृष्टि, अरागी ज्ञान तथा अरागी चारित्र है, वही धर्म है। यदि शुभराग, धर्म हो अथवा उससे धर्म होता हो तो उस राग को छोड़ना रहता ही नहीं; इसलिए श्रद्धा में राग की उपादेयता होने से मिथ्याश्रद्धा हो जाती है और मिथ्याश्रद्धा ही महान् अधर्म और अनन्त संसार का मूल है। उस मिथ्याश्रद्धा का अभाव होकर वास्तविक धर्म कैसे हो? – वह यहाँ बतलाते हैं। शुभराग तो विकार है,

औदयिकभाव है, आस्रव–बन्ध का कारण है; इसलिए संसार का कारण है।

चिदानन्दस्वभाव में एकाग्र होने से रागरहित सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान तथा आनन्द के अनुभवरूप जो शुद्ध वीतरागभाव प्रगट हुआ, वह धर्म है; उस धर्म से कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व काल में बँधे हुए कर्म खिर जाते है; इस प्रकार शुद्धपरिणामरूप धर्म से आस्रव–बन्ध रुकता है, संवर–निर्जरा होती है और उसी से सर्व कर्मों का अभाव होकर परमानन्दरूप मोक्षदशा प्रगट होती है, इसका नाम जैनधर्म है। ऐसे जैनधर्म को जानकर भव–विनाश के लिए उसकी आराधना करो – ऐसा उपदेश है।

हे जीव! तू एक बार विचार तो कर....

हे जीव! अपने चिदानन्दतत्त्व के भान बिना तू शुभभाव भी अनन्त बार कर चुका है किन्तु अंशमात्र धर्म नहीं हुआ, तेरा संसार तो ज्यों का त्यों बना ही रहा। तूने शुभराग को धर्म माना, किन्तु शुभभाव करने पर भी उस शुभभाव से तू संसार में ही भटका; इसलिए जैनधर्म का उपदेश है कि रागरहित शुद्धभाव को ही तुम धर्म जानो! राग, धर्म नहीं है – ऐसा समझो! जिनेन्द्र भगवन्तों ने जिनशासन में ऐसा उपदेश किया है, सन्त भी ऐसा ही कहते हैं और शास्त्रों में भी यही आशय भरा है। जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव को नहीं जानता और पुण्य को ही धर्म मानकर, उसका सेवन करता है, वह जीव, भोग के हेतुरूप धर्म का ही अर्थात् संसार के कारण का ही सेवन करता है किन्तु मोक्ष के कारणरूप वीतरागीधर्म का सेवन नहीं करता – ऐसा आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे।

राग मैं धर्म का उपचार कब ?

ज्ञानी के शुभराग को उपचार से धर्म कहा हो, वहाँ अज्ञानी उसी को पकड़ लेता है किन्तु यह नहीं समझता कि वह उपचार किस प्रकार से है ? मुख्य के अभाव में, किसी अन्य में उसका उपचार करना, वह व्यवहार है। पूर्ण वीतरागता, वह धर्म है, वह मुख्य है; पूर्ण वीतरागता के अभाव में धर्मी को आंशिक वीतरागभाव तो होता ही है, साथ में शुभराग भी होता है, तब अशुभराग दूर होने की अपेक्षा से एकदेश वीतरागता मानकर, उसे (शुभराग को) उपचार से धर्म कहा है किन्तु उसके तो उसी समय अनुपचार अर्थात् निश्चयधर्म का अंश वर्तता ही है। पूर्ण वीतरागता की दृष्टिपूर्वक एकदेश वीतरागता वर्तती है, वही भूतार्थ धर्म है।

ज्ञानी के शुभभाव को उपचार से धर्म बतलाने के लिये यह कहा है कि वहाँ उस समय अनुपचाररूप यथार्थधर्म (सम्यग्दर्शनादि) वर्त रहा है। जो उस यथार्थधर्म को जानता नहीं है और शुभराग को ही सचमुच धर्म मानकर उसी में सन्तुष्ट है, उसे धर्म की प्राप्ति नही होती। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्धभाव ही सच्चा धर्म है और उसी की प्राप्ति का जिनशासन में उपदेश है। ऐसा धर्म, भव का नाशक और मोक्ष का दाता है; इसलिए हे भव्यो! तुम आदरपूर्वक ऐसे जैनधर्म का सेवन करो। ●●

समयसार गाथा 15 पर प्रवचन

आत्मानुभूति ही जिनशासन

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झ पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥
यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम्॥

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जू भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥

अर्थात् जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है, जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका : जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, और असंयुक्त – ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है; इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है।

परन्तु अब वहाँ, सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकारज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है, तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं उन्हें, वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं –

जैसे, अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप – विशेषरूप) लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी, शाकलोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नही आता और परमार्थ से देखा जाए तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप; भेदरूप; अनेकाकाररूप) ज्ञान व अज्ञानी, ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोगरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान, स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जाए तो, जो ज्ञानविशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञानसामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है।

अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किए जाने पर, सर्वत: एक क्षाररसत्स के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है; उसी प्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वत: एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

भावार्थ : यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन, ज्ञेयों में ही / इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं; जैसे, शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है; उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं क्योंकि जो ज्ञान है, सो आत्मा है और जो आत्मा है, सो ज्ञान है। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न, अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

***

यह गाथा समस्त जिनशासन के रहस्य की गाथा है। सर्वज्ञ परमेश्वर का जो मार्ग है, यही जैनशासन का मोक्षमार्ग है।

जो पुरुष, शुद्ध आनन्दघन चैतन्यस्वरूप आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अर्थात् कर्म के साथ बन्ध व स्पर्शरहित; अनन्य अर्थात् मनुष्य, नरक आदि अन्य-अन्य गति से रहित; अविशेष अर्थात् ज्ञान, दर्शन, गुणभेदरहित सामान्य एकरूप तथा उपलक्षण से नियत अर्थात् वृद्धि-हानिरूप अवस्था से रहित और असंयुक्त अर्थात् पुण्य-पाप और सुख-दु:ख की कल्पनाओं से रहित देखता है अर्थात् अन्तर में अनुभव करता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है। समस्त जिनशासन के रहस्य को उस आत्मा ने जान लिया है।

भगवान आत्मा, नित्य मुक्तस्वरूप शुभाशुभभावरहित त्रिकाल शुद्ध चैतन्यवस्तु है। ऐसे आत्मा का अभ्यन्तरज्ञान से अर्थात् भावश्रुतज्ञान से अनुभव करना, शुद्धोपयोग है, यह वीतरागीपर्याय है और यही जैनधर्म है। वीतरागीदशा, जैनशासन है और यह जैनधर्म का रहस्य है।

आत्मा जो त्रिकाली वस्तु है, वह जिनस्वरूप ही है। जिनवर में और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। कहा है -

जिन सो ही है आतमा, अन्य सो ही है कर्म।
इसी वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म॥

प्रत्येक आत्मा का द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल ऐसा ही एकरूप है। जो भी आज तक भगवान हुए, वे ऐसे आत्मा का पूर्ण आश्रय करके, पूर्ण निर्मलपर्याय प्रगट करके हुए हैं। शुद्धोपयोग द्वारा जिनस्वरूप भगवान आत्मा में रमणता करना, जानना, अनुभवना - इसे भगवान जैनशासन कहते हैं। यह जैनशासन पर्याय में हैं, द्रव्य में नहीं। यह पूर्ण जिनस्वरूप आत्मा को ग्रहण करनेवाला शुद्धोपयोग ही जैनशासन

है, परमेश्वर का मार्ग है। जिसने ऐसे आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। पर्यायदृष्टि में आत्मा को बद्धस्पृष्ट; अन्य-अन्य अवस्थारूप; अनियत, भेदरूप और रागरूप देखते हैं, यह जैनशासन नहीं है। ये सेठ लोग करोड़ों का दान करें, कोई भक्ति-पूजा करे, दया, व्रत पालें, वह कोई जैनशासन नहीं है। वीतराग की वाणी स्याद्वादरूप है; इसलिए कहीं किसी स्थान पर राग को भी धर्म कहा है किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् वीतरागता से भी धर्म और राग से भी धर्म – ऐसा स्याद्वाद का स्वरूप नहीं है।

धर्मधुरन्धर, धर्म के स्तम्भ, जिन्हें मङ्गलाचरण में तीसरे स्थान पर स्मरण किया जाता है, उन आचार्य कुन्दकुन्द ने आगम में जैसा कहा है, उसे पूर्वाग्रह छोड़कर एक बार सुन तो सही! अन्तर में एकरूप परमात्मतत्त्व की प्रतीति व रमणता करना ही शुद्धोपयोग है, यही जिनशासन है। यह जैनशासन '**अपदेशसान्तमध्यं**' अर्थात् बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि बाह्य द्रव्यश्रुत में ऐसा ही कहा है कि अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करना ही जैनशासन है। बारह अङ्गरूप वीतरागवाणी का यही सार है कि शुद्धात्मा का अनुभव कर। द्रव्यश्रुत वाचक है और अन्दर भावश्रुतज्ञान उसका वाच्य है। द्रव्यश्रुत, अबद्धस्पृष्ट आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत, अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करता है।

पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे ने कलश 13 में इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। '**शिष्य ने पूछा** – इस प्रसङ्ग में दूसरी यह भी शङ्का होती है कि कोई जानेगा कि द्वादशाङ्ग ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है।

उसका समाधान – द्वादशाङ्ग ज्ञान विकल्प है। उसमें भी ऐसा ही कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, वीतरागी शुद्धात्मा का अनुसरण करने पर जो अनुभव होता है, वह अनुभूति मोक्षमार्ग है। ऐसी वस्तु को जानने के बाद विकल्प आवें तो शास्त्र बाँचे, किन्तु ऐसे जीवों को शास्त्र पढ़ने की कोई अटक नहीं है अर्थात् शास्त्र पढ़े बिना चले नहीं – ऐसा नहीं है।'

ऐसा मार्ग है भाई! अरे! (स्थानकवासी) सम्प्रदाय में लोगों ने भगवान के मार्ग को नष्ट कर दिया है। अरे! भगवान का विरह पड़ा और लोग बड़े झगड़े में पड़ गये। कोई कहता है कि शुभराग से धर्म होता है तथा कोई कहता है कि शुभभाव करते-करते धर्म होगा। भारी विपरीतता आ पड़ी है किन्तु इससे क्या हो? सर्वज्ञता तो प्रगट हुई नहीं है और सर्वज्ञ स्वभाव का अनुभव नहीं है। यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञस्वभाव का अनुभवरूप शुद्धोपयोग जैनशासन है, जैनधर्म है। जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है; यह तो वस्तु का स्वरूप है।

प्रवचनचार में 47 नयों में शुद्धनय और अशुद्धनय की बात आती है; उसमें मिट्टी के बर्तन-घटादि से देखें तो अशुद्धनय है तथा अकेली मिट्टी... मिट्टी... मिट्टी सामान्य से देखें तो शुद्धनय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से देखें तो अशुद्धनय है और त्रिकाली एकरूप चैतन्यसामान्यपने देखें तो शुद्धनय है। ऐसे शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यसामान्य त्रिकाली द्रव्य का अनुभव करने को ही यहाँ जैनदर्शन कहा है।

गाथा 15 की टीका पर प्रवचन

यह अबद्धस्पृष्टादि पाँच भावरूप आत्मा की अनुभूति है, वही

वास्तव में समस्त जिनशासन की अनुभूति है अर्थात् जो पाँच भावरूप आत्मा को शुद्धोपयोग द्वारा देखते हैं, वे वास्तव में समस्त जिनशासन का अनुभव करते हैं। यही जैनमार्ग है, मोक्षमार्ग है। व्यवहार या राग जैनशासन नहीं है। जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक साधक को राग आता अवश्य है परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। जैनशासन तो शुद्धोपयोगमय वीतराग-परिणति है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय-परिणति शुद्धोपयोगमय वीतरागपरिणति है, यह जैनधर्म है, जैनशासन है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में आया है कि आत्मपदार्थ का वेदन, अनुभव, परिणति, वह जैनशासन-जैनमत है।

अब कहते हैं कि यह जैनशासन अर्थात् अनुभूति क्या है? श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धोपयोग से जो आत्मा का अनुभव हुआ, वह आत्मा ही है क्योंकि रागादि आत्मा नहीं; अनात्मा हैं। धर्मी को भी अनुभूति के पश्चात् जो राग आता है, वह अनात्मा है। द्रव्यश्रुत में यही कहा है और यही अनुभव में आया; इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है क्योंकि भावश्रुत में जो त्रिकाली वस्तु ज्ञात हुई, वह वीतरागस्वरूप है और इसकी अनुभूति प्रगट हुई, यह भी वीतरागपरिणति है। भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। इस पर्याय में अनुभव हुआ, यह भावश्रुतज्ञान है, शुद्धोपयोग है, आत्मा की ही जाति होने से आत्मा ही है। अनुभूति में पूरा आत्मा का नमूना आया; इसलिए वह आत्मा ही है। इससे द्रव्य की अनुभूति कहो, या ज्ञान की अनुभूति कहो, एक ही चीज है। 'ही' शब्द लिया है - यह सम्यक्-एकान्त है।

अहा हा.....! भगवान की वाणी! 'चैतन्य-चमत्कार जागृत हो'

- ऐसी चमत्कारिक है। सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव हो, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है। देखो! रागमिश्रित ज्ञेयाकार ज्ञान जो पूर्व में था, उसकी रुचि छोड़कर और ज्ञायक की रुचि का परिणमन करके सामान्यज्ञान का पर्याय में अनुभव करने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव व विशेषज्ञान का तिरोभाव कहते हैं - यह पर्याय की बात है।

ज्ञान की पर्याय में अकेला ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान का वेदन होने और शुभाशुभ ज्ञेयाकारज्ञान के ढ़ँक जाने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकारज्ञान का तिरोभाव कहते हैं और इस तरह ज्ञानमात्र का अनुभव करते हुए ज्ञान, आनन्दसहित पर्याय में अनुभव में आता है।

यहाँ 'सामान्यज्ञान का आविर्भाव' अर्थात् त्रिकालीभाव का आविर्भाव, यह बात नहीं है। सामान्यज्ञान अर्थात् शुभाशुभ ज्ञेयाकाररहित अकेला ज्ञान का पर्याय में प्रगटपना। अकेला ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव - यह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। ज्ञेयाकाररहित अकेला प्रगट ज्ञान सामान्यज्ञान है। इसका विषय त्रिकाली है।

भाई! यह तो अध्यात्म-कथनी है। एक-एक शब्द में गम्भीरता भरी है। एक तो यह समयसार ग्रन्थ और उसमें भी 15 वीं गाथा! कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी समझने के लिए भी बहुत पात्रता चाहिए।

जो अज्ञानी है, ज्ञेयों में आसक्त है, उन्हें यह आत्मा स्वाद में नहीं आता। चैतन्यस्वरूप निज परमात्मा की जिन्हें रुचि नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीवों को या जो परज्ञेयों में आसक्त हैं अर्थात् व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहाररत्नत्रय के परिणामों में आसक्त हैं,

शुभाशुभविकल्पों के जानने में रुक गये हैं – ऐसे ज्ञेयलुब्ध जीवों को आत्मा के अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का स्वाद नहीं आता।

आत्मा का स्वाद कैसा होगा ? दाल, भात, लड्डू, मौसम्बी इत्यादि का स्वाद तो होता है, ये तो सब जड़ वस्तुएँ हैं। जड़ का स्वाद तो अज्ञानी को भी नहीं आता, क्योंकि अपने द्रव्य, गुण, पर्याय की सत्ता को छोड़कर, पदार्थ क्या दूसरे की सत्ता में मिल सकते हैं ? जड़ तो भिन्न वस्तु है। परवस्तु के प्रति जो राग है, अज्ञानी को उसका स्वाद आता है; वस्तु का नहीं। स्त्री–सेवन में वह स्त्री के शरीर को नहीं भोगता, किन्तु उसके प्रति हुए राग का वेदन/अनुभव करता है। पैसा या इज्जत में पैसा या इज्जत का अनुभव नहीं आता। चरपरी मिर्च मुँह में डालने पर चरपराहट का स्वाद नहीं आता है परन्तु चरपराहट के जानने पर, 'यह ठीक है' – ऐसी मान्यतापूर्वक जो राग उत्पन्न होता है, उस राग का अज्ञानी स्वाद लेता है। इसी प्रकार शरीर में बुखार आता है, इस बुखार का अनुभव आत्मा को नहीं होता; मात्र यह ठीक नहीं है – ऐसी अरुचि होने पर दुःख का अनुभव होता है। वस्तु के प्रति राग में आसक्त अज्ञानी जीव को राग का स्वाद आता है और वह आकुलतामय है, अधर्म है।

आत्मा का स्वाद तो अनाकुल आनन्दमय है। पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है –

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ ताकौ नाम॥

जो ज्ञायकस्वरूप वस्तु को ज्ञान में लेकर अन्तर में ध्यान करता है, उसके मन के विकल्प– राग विश्राम को प्राप्त हो जाते हैं, हट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं; मन शान्त हो जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद आता है। परिणाम अन्तर्निमग्न होने पर अनाकुल सुख का स्वाद आता है, उसे अनुभव अर्थात् जैनशासन कहते हैं।

जो ज्ञेयों में आसक्त हैं, वे इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं। जो पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं। देव–गुरु –शास्त्र, साक्षात् भगवान और भगवान की वाणी भी इन्द्रियों के विषय हैं।

समयसार गाथा 31 में आया है –

'जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं'

पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ – इन तीनों को इन्द्रियाँ कहा जाता है। इन तीनों को जीतकर अर्थात् इनकी ओर के झुकाव–रुचि को छोड़कर इनसे अधिक अर्थात् भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को, अतीन्द्रिय भगवान को अनुभवना – यही जैनशासन है। अपने स्वज्ञेय में लीनतारूप यह अनुभूति अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परिणति ही जैनशासन है। इससे विरुद्ध अज्ञानी को परिपूर्ण स्वज्ञेय की अरुचि है तथा इन्द्रियादि के खण्ड –खण्ड ज्ञेयाकारज्ञान की रुचि और प्रीति है। वे अज्ञानी परज्ञेयों में आसक्त है – इस कारण उन्हें ज्ञान का स्वाद नहीं आने से राग का – आकुलता का स्वाद आता है। राग का स्वाद, राग का वेदन अनुभव में आना – यह जैनशासन से विरुद्ध है; इसलिए अधर्म है। शुभक्रिया करना और यह करते–करते धर्म हो जाएगा – ऐसी मान्यता मिथ्याभाव है तथा शुभाशुभराग से भिन्न आनन्द के कन्द भगवान

आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञायक के ज्ञान का वेदन करना – यह जिनशासन है, धर्म है।

यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे, अनेक प्रकार के शाक आदि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य नमक के तिरोभाव और विशेष नमक के आविर्भाव का स्वाद, अज्ञानी शाक के लोभी मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य के सम्बन्धरहितपने से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आता हुआ एकाकार अभेदरूप नमक का स्वाद, अज्ञानी को नहीं आता। लौकी, तोरई, करेला आदि शाक में तथा खिचड़ी, रोटी आदि पदार्थों में नमक डाला जाता है तो उन पदार्थों के सम्बन्ध से नमक का स्वाद लेने पर सामान्य नमक का स्वाद ढक जाता है और शाक खारा है – ऐसी अनुभूति होती है। वास्तव में तो खारा नमक है; शाक नहीं है तथा शाक आदि द्वारा भेदरूप नमक का स्वाद आना, यह विशेष का अविर्भाव है। शाक के लोलुपी मनुष्यों को नमक द्वारा नमक का स्वाद अर्थात् एकाकार अभेदरूप नमक का स्वाद, नमक खारा है – ऐसा स्वाद नहीं आता।

परमार्थ से देखा जाए तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता हुआ नमक ही सामान्य के अविर्भाव से अनुभव में आता हुआ नमक है। परमार्थ से देखें तो शाक के लोलुपी जीवों को विशेष का अविर्भाव अर्थात् शाक द्वारा जो नमक का स्वाद आता है, वह वस्तुतः तो सामान्य नमक का ही विशेष है, उसका ही भाव है; शाक का खारापना (विशेष) नहीं है और यह विशेषपना, शाक द्वारा आया है – ऐसा भी नहीं है, सामान्य नमक का ही स्वाद है। अज्ञानी को शाक के संयोग से नमक का ख्याल आता है, यह विपरीत है क्योंकि उसे नमक के स्वभाव का ख्याल नहीं है – यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब, सिद्धान्त कहते हैं – इसी प्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता हुआ जो (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान है, वह अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों को स्वाद आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोगरहितपने से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आता हुआ एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता। स्त्री, पुत्र, पुत्री, भगवान, भगवान की वाणी, पुण्य-पाप, राग इत्यादि अनेक प्रकार के ज्ञेय हैं; इन ज्ञेयों के आकार के साथ मिश्ररूपपने से उत्पन्न सामान्य का तिरोभाव अर्थात् अकेले ज्ञान का अनुभव ढक जाना तथा विशेष का आविर्भाव अर्थात् ज्ञेयता के सम्बन्ध से ज्ञान का प्रगट होना – इससे रागादि द्वारा जो ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव होता है, वह अज्ञान है; उसमें आत्मा का स्वाद नहीं आता।

राग द्वारा ज्ञान का ज्ञेयाकार विशेष, वास्तव में तो सामान्यज्ञान की अवस्था है परन्तु भ्रम से ऐसा मानता है कि राग की अवस्था के कारण ज्ञान हुआ। यह मान्यता मिथ्यात्व है और दुःख का वेदन है। पुण्य और पाप के विकल्प जो ज्ञेय हैं, उन पर जिसकी दृष्टि है, उनमें जिनको आसक्ति है, यह जो ज्ञेयों द्वारा ज्ञान का स्वाद आता है, वह दुःख का स्वाद है, आकुलता का स्वाद है। जैसे, अज्ञानी शाक के लोलुपी को शाक द्वारा नमक का स्वाद आता है, वह मिथ्या है; उसी प्रकार इन ज्ञेयलुब्ध जीवों को दया, दान आदि पुण्य तथा क्रोध, मान

आदि पाप के विकल्प जो कि 'परज्ञेय' हैं, आत्मा से भिन्न हैं, इनके द्वारा राग की पर्याय और ज्ञान की पर्याय का मिश्रित अनुभव होने पर जो स्वाद आता है, वह दुःख का स्वाद है, विपरीत है, जहर का स्वाद है क्योंकि इनमें आत्मा के सामान्यज्ञान का अनुभव ढक गया है।

राग और ज्ञान का वेदन धर्म नहीं है। ज्ञान द्वारा ज्ञान का अकेला वेदन, धर्म है। यह धर्म और अधर्म की व्याख्या है। ज्ञेयाकार ज्ञान का अनुभव करे, मिथ्यात्वसहित दुःख का वेदन है। शास्त्र-स्वाध्याय भी विकल्प है, इस विकल्प द्वारा ज्ञान का अनुभव होना भी अधर्म है। अहा हा....! आत्मा तो वीतरागस्वभाव का पिटारा है, वीतरागस्वरूप ही है। इस ओर के झुकाव से अकेले ज्ञान का जो अनुभव आता है, वह आत्मा का - अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का स्वाद है, वह धर्म है।

परमार्थ से विचार करें तो विशेष के आविर्भाव से जो ज्ञान अनुभव में आता है, वही ज्ञानसामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। ज्ञायक पर जिसकी दृष्टि है, वह तो जानता है कि ज्ञान का विशेष, ज्ञानसामान्य में से आता है। ज्ञायक पर दृष्टि पड़ते ही ज्ञान की पर्याय का वेदन आता है; राग का नहीं, राग से नहीं। राग द्वारा ज्ञान का अनुभव वास्तव में तो सामान्य का विशेष है, तथापि अज्ञानी मानता है कि यह राग का विशेष है, यह दृष्टि का फेर है।

समयसार गाथा 17, 18 में आता है कि आबालगोपाल सब को राग, शरीर, वाणी जिस काल दिखती है, उस समय वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है किन्तु ऐसा न मानकर मुझे यह जानने

में आया, राग जानने में आया, यह मान्यता विपरीत है। इस प्रकार ज्ञानपर्याय है तो सामान्य का विशेष, किन्तु ज्ञेय द्वारा ज्ञान होने पर अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान होने पर अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञेय का विशेष है, ज्ञेय का ज्ञान है। वास्तव में जो ज्ञानपर्याय है, वह सामान्यज्ञान का ही ज्ञान-विशेष है; परज्ञेय का ज्ञान नहीं है, परज्ञेय से भी नहीं है।

अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे नमक से अन्य शाकादि द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल नमक का ही अनुभव करने पर सर्व ओर से एक क्षाररस को लेकर क्षाररसपने से नमक ही स्वाद में आता है; उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव करने में आता हुआ सर्व ओर से एक विज्ञानघनपने से मात्र ज्ञानरूप से स्वाद में आता है तथा जैसे नमक की डली में अन्य द्रव्य के संयोग का निषेध करके केवल नमक की डली का अनुभव करने में आवे तो सर्वत्र क्षारपने से ही स्वाद आता है। नमक की डली सीधी नमक के द्वारा स्वाद में आती है, यह यथार्थ है। उसी प्रकार अलुब्धज्ञानियों को अर्थात् जिनको इन्द्रियों के समस्त विषयों की, परज्ञेयों की आसक्ति-रुचि छूट गयी है, उन ज्ञानियों को अपने सिवाय अन्य समस्त परद्रव्य व परभावों का लक्ष्य छोड़कर एक ज्ञायकमात्र चिद्घनस्वरूप का अनुभव करने पर सब ओर से एक विज्ञानघनपने को लेकर, मात्र ज्ञान ही स्वाद में आता है। अकेला ज्ञान, सीधा ज्ञान के स्वाद में आता है - यह आनन्द का वेदन है, यह जैनशासन है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान की अनुभूति है।

एक ओर स्वद्रव्य है और दूसरी ओर समस्त परद्रव्य हैं। 'एक ओर राम और दूसरी ओर ग्राम'। ग्राम अर्थात् (परद्रव्यों का) समूह। अपने सिवाय जितने परद्रव्य हैं, वे ग्राम में शामिल होते हैं। परज्ञेय – पञ्चेन्द्रियों के विषय अर्थात् साक्षात भगवान व भगवान की वाणी, देव, गुरु, शास्त्र और शुभाशुभराग – ये सब ग्राम में अर्थात् परद्रव्य के समूह में आ जाते हैं। इनकी ओर लक्ष्य जाने पर राग ही उत्पन्न होता है। समवसरण में साक्षात् अरिहन्त विराजमान हों, उनका लक्ष्य करने पर भी राग ही उत्पन्न होता है, यह अधर्म है; यह कोई चैतन्य की गति नहीं है, यह तो विपरीत गति है।

मोक्षपाहुड में कहा है कि '**परद्रव्वाओ दुग्गई**'। अतः परद्रव्य से उदासीन होकर एक त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो सर्वतः ज्ञानघन है, उस एक का ही अनुभव करने पर अकेले (निर्मल) ज्ञान का स्वाद आता है – यह जैनदर्शन है। इन्द्रियों के विषयों में राग द्वारा जो ज्ञान का अनुभव अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान, वह आत्मा का स्वाद – अनुभव नहीं है, यह जैनशासन नहीं है। आत्मा में भेद के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न हो, वह राग का ज्ञान है – ऐसा मानना अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। एक ज्ञान द्वारा ज्ञान का वेदन ही सम्यक् है, यथार्थ है। **अहो! समयसार विश्व का एक अजोड़ चक्षु है। यह वाणी तो देखो! सीधी आत्मा की ओर ले जाती है।**

समयसार शास्त्र – वाणी, वाचक है और अपने में रागादिरहित जो समयसार है, वह वाच्य है। आजकल तो लोग बाहर में पड़े हैं, क्रियाकाण्ड में उलझे हैं। कोई कहता है – मैं पुस्तक बनाता हूँ परन्तु पुस्तक बनाने का विकल्प, राग है और मैं पुस्तक बना सकता हूँ – ऐसा भाव, मिथ्यात्वभाव है। जड़पदार्थ को कौन बना सकता है? 'क' यह एक अक्षर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है, आत्मा इसे तीन काल में भी बना या लिख नहीं सकता। अनन्त द्रव्य अनन्तपने रहकर एक-एक परमाणु और अन्य द्रव्य अपनी अवस्था स्वकाल में पृथक्पने करते हैं।

'णमो अरिहंताणं' यह तो शब्द हैं। अन्दर नमन करने का जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह राग है, उस राग द्वारा ज्ञान का अनुभव – यह आत्मा का स्वाद नहीं है।

परमात्मप्रकाश में आया है कि यह जीव अनन्त बार महाविदेहक्षेत्र में जन्मा है। वहाँ तीर्थङ्कर नित्य विराजते हैं, तीर्थङ्कर का विरह नहीं है, वहाँ समवसरण में भी अनन्त बार गया है। सम्यग्ज्ञानदीपिका में लिखा है कि जीव ने पूर्व में अनन्त बार प्रत्यक्ष समवसरण में केवली भगवान की हीरों के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के पुष्पादि से पूजा की है तथा दिव्यध्वनि सुनी है किन्तु यह तो सब शुभराग है। इसमें धर्म मानकर अनन्त काल से संसार में रुला है।

देखो, जगत का यह बात बैठना (जँचना) कठिन है परन्तु भाई! आत्मा के भान बिना हजारों स्त्रियों और राजद्वार छोड़कर नग्न दिगम्बर साधु हुआ हो तो भी दुःखी है। पञ्च महाव्रत के परिणाम भी सुख नहीं है; दुःख ही हैं। समयसारनाटक मोक्षाधिकार के ४० वें छन्द में तो यहाँ तक कहा है कि, **भावलिङ्गी मुनिराज के छट्ठे गुणस्थान में जो पञ्च महाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह 'जगपन्थ' है।** मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या करें ? वहाँ तो यहाँ तक लिया है कि सच्चे मुनिराज को भी जो बारम्बार विकल्प

उत्पन्न होते हैं, यह अन्तर अनुभव में शिथिलता है, ढीलापना है। यहाँ कहते हैं कि राग से भिन्न भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा में झुकाव होने पर जो सीधा ज्ञान, ज्ञान द्वारा अनुभव में आता है, वह आत्मा का स्वाद है, वह जिनशासन है, आत्मानुभूति है।

यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानी जीव, स्वज्ञेय को छोड़कर अनन्त परज्ञेयों में ही लुब्ध हो रहे हैं अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रियज्ञान को छोड़कर इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध हो रहे हैं। जिन्हें निज चैतन्यघन आत्मा का अनुभव नहीं है, ऐसे अज्ञानी, परवस्तु में, परज्ञेयों में लुब्ध हैं; उनकी दृष्टि और रुचि रागादि पर है; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से और रागादि से अनेकाकार हुए ज्ञान का ही स्वपने आस्वाद लेते हैं – यह मिथ्यात्व है। देव–गुरु–शास्त्र परद्रव्य हैं, उनकी श्रद्धा का राग विकल्प है। यह राग मिथ्यात्व नहीं है परन्तु इसे धर्म मानना मिथ्यात्व है। अज्ञानी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग के ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र से आस्वादते हैं। जिन्हें ज्ञेयाकार ज्ञान की रुचि है, उनको ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का स्वाद नहीं आता। उन्हें अन्तर्मुख दृष्टि के अभाव में राग का, आकुलता का ही स्वाद आता है।

जो ज्ञानी हैं, जिन्हें महाव्रतादि के राग के परिणाम में लीनता और रुचि नहीं है, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही स्वाद (आनन्द) लेते हैं। वह निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद है। ज्ञानी, ज्ञेयों में आसक्त नहीं है, राग या निमित्त किसी में एकाकार नहीं है। साक्षात् भगवान विराजमान हों तो उनमें भी धर्मी को आसक्ति या एकताबुद्धि नहीं है। धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय का राग, महाव्रतादि

पालन करने का राग होता है परन्तु वह इनमें भिन्न निज चैतन्यस्वरूप आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञानमात्र एकाकार ज्ञान का आस्वादन करता है – यह अनाकुल आनन्द का स्वाद है, यही धर्म है। जैसे, शाकों से अलग नमक की डली का मात्र खारा स्वाद आता है; उसी प्रकार ज्ञानी को परज्ञेयों और शुभाशुभभावों से भिन्न एक निज ज्ञायकमात्र ज्ञान का स्वाद आता है, इसे निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; इसलिए ज्ञान का स्वाद है, वह आत्मा का ही स्वाद है।

'ज्ञान, आत्मा है और आत्मा, ज्ञान है' – इस प्रकार ज्ञान, गुण और आत्मा, गुणी – दो की अभेददृष्टि होने पर सर्व परद्रव्यों से रहित अबद्धस्पृष्ट, अपनी पर्याय में एकरूप निश्चल अर्थात् हानि–वृद्धि से रहित, अपने गुणों में एकरूप, अभेद तथा परनिमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुए पुण्य–पाप, सुख–दुःख की कल्पना से रहित निजस्वरूप का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है और यही सम्यग्ज्ञान है, जैनधर्म है। जैनशास्त्र पढ़ना, सुनना और उनको याद रखना, सम्यग्ज्ञान नहीं है। जिनवाणी तो एक तरफ रही, जिनवाणी सुनने पर जो ज्ञान (विकल्प) अन्दर में होता है, वह भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। द्रव्यश्रुत का ज्ञान तो विकल्प है परन्तु अन्दर भगवान चिदानन्द रसकन्द है, उसे दृष्टि में लेकर एकमात्र उस ज्ञान का अनुभव करना भावश्रुतज्ञान है, समयग्ज्ञान है, जैनशासन है। निजस्वरूप का अनुभव आत्मज्ञान है। शुद्धज्ञानरूप स्वसम्वेदन ज्ञान का (त्रिकाली का) स्वसंवेदन – अनुभवन, भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभव है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

यहाँ तीन बातें आयीं –

1. परद्रव्य और पर्याय से भी भिन्न अखण्ड, एक शुद्ध, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का अनुभवनरूप भावश्रुतज्ञान ही शुद्धनय है।

2. शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य का अनुभव ही शुद्धनय है और यही जैनशासन है।

3. त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकमात्र का वर्तमान में भावश्रुतज्ञानरूप अनुभव जैनशासन है क्योंकि भावश्रुतज्ञान वीतरागीज्ञान है, वीतरागी पर्याय है।

आत्मा के अनुभव बिना जीव, अनन्त काल से जन्म–मरण करके नरक–निगोद के अनन्तानन्त दुःखों को प्राप्त हुआ है। देव–गुरु –शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा या नव तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, सम्यक्त्व नहीं है। कलशटीका के छठवें कलश में आया है कि, संसारदशा में जीवद्रव्य नव तत्त्वरूप से परिणमा है, वह तो विभाव –परिणति है; इसलिए नव तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इन भेदों में से एकरूप ज्ञायकभाव को – अबद्धस्पृष्ट आत्मा को ग्रहण करके अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्वों में से अकेला सामान्यज्ञान–ज्ञान–ज्ञान ऐसे आत्मा को पृथक् करके, उस एक का ही अनुभव करना सम्यग्दर्शन है – यही मूलवस्तु है। जैसे, आँवले के वृक्ष के ऊपर–ऊपर पत्ते तोड़ लें और मूल साबुत रखें तो वह झाड़ थोड़े ही दिनों में फिर पनप जाता है; उसी तरह ऊपर–ऊपर से राग मन्द करे, किन्तु मूल मिथ्यात्व–पर्यायबुद्धि साबुत रहे तो फिर से राग बढ़ेगा ही; इसीलिए तो प्रवचनसार गाथा 93 में कहा है कि जिसे पर से भिन्न एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि नहीं है और एक समय की पर्याय में राग को ही ‘स्व’ मानकर रुक गया है, वह पर्यायमूढ़ है। ●●

नियमसार कलश 76 पर प्रवचन

जिनधर्म जयवन्त वर्तता है

कैसा है जिनधर्म – वीतरागधर्म ?

त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है।

त्रसघात के परिणामरूप जो अशुभभाव है, वह अज्ञान–अन्धकार है क्योंकि उसमें ज्ञानस्वभाव का अभाव है। ऐसे जो त्रसघात के परिणाम हैं / ऐसा जो अज्ञानरूपी **ध्वांत,** अर्थात् अन्धकार है, उसके नाश का हेतु जिनधर्म है। तात्पर्य यह है कि जिनधर्म, अशुभपरिणाम के नाश का कारण है। यहाँ अशुभपरिणाम में भी त्रसघात के परिणाम लिये हैं क्योंकि यह अहिंसाव्रत का अधिकार है न!

सकल लोक के जीवसमूह को जो सुखप्रद है।

जैनधर्म, सम्पूर्ण दुनिया के / जगत् के / लोक के जीवसमूह को; अर्थात्, समस्त जीवों को सुखप्रद है; सुख और शान्ति देनेवाला है। लो, वीतरागभाव, सुख और शान्ति को देनेवाला है — ऐसा कहते हैं और उसे ही जिनधर्म कहते हैं।

स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के विविध वध से जो बहुत दूर है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति – ऐसे जो स्थावर

एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके विविध वध से; अर्थात्, अनेक प्रकार के हनन से जैनधर्म बहुत दूर है। जैनधर्म, अर्थात् वीतरागभाव, एकेन्द्रिय जीवों के बध के परिणामों से अति दूर है। देखो, यहाँ कहा है कि बध के परिणामों से जिनधर्म अति, अर्थात् बहुत दूर है। तात्पर्य यह है कि त्रस–स्थावर जीवों के बध के परिणाम, अशुभ हैं, उनसे शुभभाव दूर है और शुभभाव से शुद्धभाव दूर है; इसलिए अशुभभाव तो जिनधर्म है ही नहीं, परन्तु शुभभाव भी जिनधर्म नहीं है।

और सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,

अपना त्रिकालीस्वभाव जिनस्वरूप है, उसके आश्रय से प्रगट हुआ वीतरागभाव, जो कि जिनधर्म है, वह सुन्दर सुखसागर का पूर है। देखो, परिणाम में परम आनन्द का प्रवाह बहना, वह जिनधर्म है – ऐसा कहते हैं। अहा! धर्म, सुन्दर सुखसागर का पूर है। जिनधर्म; अर्थात्, वर्तमान निर्मलपरिणति की बात है। दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाली जीव तो सुखसागर का पूर है ही; अर्थात्, जीव का परमस्वरूप तो परम आनन्दमय है ही, परन्तु यह तो जिनधर्म; अर्थात्, वर्तमान वीतरागीपरिणाम भी परम सुन्दर सुखसागर का पूर है – ऐसा कहते हैं। जिसमें शान्ति और सुख बहता है, जो शान्ति और सुख का परिणमन है, वह जिनधर्म है परन्तु शुभाशुभराग का परिणमन, वह जिनधर्म नहीं है।

समयसार की 15 वीं गाथा में शुद्धपर्याय को जैनशासन कहा है न! क्योंकि जिनधर्म पर्याय में है न! जिसने अन्दर में अबद्धस्पृष्ट आत्मा को जाना है, उसे पर्याय में वीतरागता और आनन्द बहता है और उसे ही जैनशासन–जिनधर्म कहते हैं। लो, यह जिनधर्म की

व्याख्या! त्रस–स्थावर को नहीं मारना, उनकी दया पालना, वह जिनधर्म – ऐसी व्याख्या नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय को मारने के अशुभपरिणाम से तो जैनधर्म बहुत दूर है और उन्हें नहीं मारने के शुभपरिणाम से भी दूर है। अहा! व्रत के परिणाम से भी जिनधर्म दूर है – ऐसा कहते हैं। लो, यह जिनधर्म!

'मूलमारग साँभलो जिन नो रे.....' – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्र में आता है न! तो यह शुद्धता ही जिनमार्ग है। जिस परिणाम के द्वारा जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का अवलम्बन लिया, वह परिणाम वीतरागी है और वह जिनधर्म है। तात्पर्य यह है कि जिनधर्म, धर्मी के परिणाम में होता है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है! धर्मी जीव ने / साधक ने धर्मी, ऐसे त्रिकाली आत्मा के आश्रय से जो परिणाम प्रगट किये, वे परिणाम जिनधर्म है; अर्थात्, शान्तरसरूप परिणमन करना – अकषायभावरूप होना, वह जिनधर्म है, ऐसा यहाँ कहते हैं, क्योंकि यहाँ प्रगटरूप जिनधर्म की बात है परन्तु त्रिकाली (शक्तिरूप) जिनधर्म की बात नहीं है।

प्रश्न – यह तो एकान्त हो जाता है ?

उत्तर – भाई! यह सम्यक् एकान्त ही है।

स जयति जिनधर्मः; अर्थात्, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है।

देखो, जैनधर्म नहीं, किन्तु जिनधर्म कहा है और वह 'जयति', अर्थात् जयवन्त वर्तता है – ऐसा कहकर मुनिराज अपने परिणाम की बात करते हैं कि उस जिनधर्म का भाव हमारे परिणाम में जयवन्त वर्तता है। वह जिनधर्म कहीं अन्यत्र रहता है – ऐसा नहीं है परन्तु जो

सर्व जीव समूह को सुखदाता है, त्रस-स्थावर के बध के परिणामों से अति दूर है और सुखसागर का पूर है, वह जिनधर्म हमारे परिणाम में जयवन्त वर्तता है - ऐसा मुनिराज कहते हैं।

पूर्ण जिनस्वरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन करके / आश्रय करके / उसके सन्मुख होकर जो परिणाम हुए, वह परिणाम हमें वर्तमान में वर्तते हैं और इसीलिए हमारे परिणाम में जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। त्रस और स्थावर जीवों के बध के परिणाम से अति दूर - ऐसे हमारे परिणाम वीतरागभावरूप वर्तते हैं; इस कारण जैनशासन हमारे पास है, जिनधर्म हमारे परिणाम में वर्तता है - ऐसा मुनिराज कहते हैं। तदुपरान्त वे यह भी कहते हैं कि उसका हमें पता है; इसीलिए तो कहते हैं न कि जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। भाई! धर्म ऐसा अद्भुत है।

अहा! भगवान ने कहा और मैंने मात्र सुना कि जिनधर्म ऐसा होता है - यह नहीं कहा, परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि हमारे परिणाम में जिनधर्म, वर्तमान में वर्तता है और इसीलिए वह जयवन्त है, जीवित-जीवन्त है। अहा! मुनिराज को धर्म का जोश चढ़ गया है। वे कहते हैं कि हमें त्रिकाली वीतरागीस्वभाव में से प्रवाहरूप जो वीतरागीपरिणति उत्पन्न हुई है, वह जिनधर्म है। लो, ऐसा जिनधर्म है और ऐसे-ऐसे अनन्त परिणामों का पिण्ड जो जिनस्वरूप है, वह जीव का स्वरूप है। दूसरे प्रकार से कहें तो जिनधर्म जिस परिणाम में वर्तता है, वैसे-वैसे अनन्त परिणाम आत्मा में हैं - ऐसा वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसके आश्रय से वीतरागधर्म प्रगट हुआ है और वर्तता है, ऐसा कहते हैं।

देखो, मुझे जिनधर्म है या नहीं - इसका स्वयं को पता चलता है। तात्पर्य यह है कि धर्म एक वीतरागपर्याय है और वह वीतरागपर्याय स्वयं को वर्तती है - ऐसा अपने को पता पड़ता है - यह कहते हैं। 'यह प्रीतिभोज है' - जैसे, विवाह के पश्चात् उत्साह से भोजन कराना प्रीतिभोज कहलाता है; इसी प्रकार यह जिनधर्म भी आत्मा के आनन्द का प्रीतिभोज है - ऐसा कहते हैं। देखो, यह वास्तविक जिनधर्म की व्याख्या!

प्रश्न - जिनधर्म कहाँ रहता है, मन्दिर में या पुस्तक में?

उत्तर - जिनधर्म जहाँ से प्रगट होता है, वहाँ रहता है। त्रिकाली भगवान आत्मा, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण शान्त-शान्त-शान्त रसस्वरूप है; वहाँ से प्रगट होनेवाला शान्तरसमय अकषायभाव जिनधर्म आत्मा में रहता है और जयवन्त वर्तता है। ऐसा कहकर, धन्य रे मुनि धन्य! कि जिन्हें जिनधर्म जयवन्त वर्तता है और उन्होंने जीवन जीना जाना है - ऐसा कहते हैं। अपने स्तवन में भी आता है न कि '**जीवि जान्यों नेमनाथे जीवन**' - इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि 'जीवि जान्यो मुनिए जीवन जिनधर्म ना परिणाम थी' - जिनधर्म ऐसा अद्भुत है।

अहा! जिनधर्म कोई सम्प्रदाय अथवा बाड़ा नहीं है, अपितु वह तो वस्तु का स्वरूप है। जिनवीतरागस्वरूप परमात्मस्वरूप आत्मा के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है, वह जिनधर्म है और वह तो वस्तु की स्थिति है; इसलिए जिनधर्म कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं है। यहाँ मुनिराज ने कहा है कि मेरी पर्याय में जिनधर्म जयवन्त वर्तता है; वह कहीं अन्यत्र वर्तता है, ऐसा नहीं है। मेरा भगवान आत्मा

प्रसन्न होकर मेरी पर्याय में आया है। मेरा भगवान आत्मा कृपा करके वीतरागरूप होकर परिणाम में आया है; इसलिए वह जयवन्त वर्तता है; अर्थात्, मुझे अनुभव में आता है। मैं प्रत्यक्ष आनन्द और वीतरागभाव के वेदन में हूँ और वह जिनधर्म है – ऐसा मुनिराज कहते हैं।

ऐसा वीतरागधर्म है तो फिर यह सब मन्दिर बनाना इत्यादि किसलिए?

भाई! यह सब तो उस काल में होना हो तो उसके कारण होता है। हाँ, उस काल में जीव को शुभभाव हो तो उसे निमित्त कहा जाता है, तथापि वह शुभराग, धर्म नहीं है और फिर भी वह आता है। यह बात अद्‌भुत है! गजब है!

अहो! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के समीप में गणधर और सन्त निज अन्तर के परिणाम में वर्तते हैं। ऐसे उस नित्यानन्दी के अनुभवी को यहाँ जिनधर्मी कहते हैं और उस (निज अन्तर) परिणाम को जैनधर्म कहते हैं किन्तु छह काय की – एकेन्द्रिय और त्रस की दया पालन करना, वह जैनधर्म है – ऐसा नहीं है क्योंकि उस परिणाम से जिनधर्म दूर है। छह काय के घात के परिणाम से और उनकी दया के परिणाम से भी जैनधर्म दूर है। लो, ऐसा ही उसका सहज स्वभाव है और जो ऐसा स्वीकार करता है, उसने जिनधर्म सुना – ऐसा कहते हैं, वरना उसने जिनधर्म सुना नहीं है। ●●

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
प्रवचन सागर में से चुने हुए अनमोल मोती

जिनशासन, जिनधर्म, जैनधर्म

जैनशासन अर्थात् वस्तु का स्वरूप

जैनशासन तो वस्तु का स्वरूप है। जैन अर्थात् अन्दर जो यह ध्रुव ज्ञायकभाव विराजमान है, जो कभी रागरूप, जड़रूप, मलिनतारूप नहीं हुआ – ऐसे ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर, उसे ज्ञान और दृष्टि में लेनेवाले को जैन कहते हैं। जैन, कोई बाड़ा अथवा बेष नहीं है, यह तो वस्तुस्वरूप है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-98)*

अज्ञान को जीतना ही जैनधर्म

जैनधर्म कोई क्रियाकाण्ड अथवा सम्प्रदाय नहीं है। वस्तु के स्वभाव की दृष्टि करके, अज्ञान और राग-द्वेष को जीतने का नाम जैनधर्म है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-244)*

जैनशासन का रहस्य

भगवान आत्मा नित्य मुक्तस्वरूप, शुभाशुभभावरहित त्रिकाल शुद्ध चैतन्य वस्तु है – ऐसे आत्मा को अभ्यन्तरज्ञान से, अर्थात् भावश्रुतज्ञान से अनुभव करना, शुद्धोपयोग है और वह वीतरागीपर्याय

ही जैनधर्म है। रागरहित वीतरागीदशा ही जैनशासन है और वही जैनधर्म का रहस्य है। समस्त जैनशासन का रहस्य, उस (अनुभवी) आत्मा ने जान लिया है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-259)*

शुद्धोपयोग ही जिनशासन

प्रत्येक आत्मा का द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल एकरूप ही है। जो भगवान हुए हैं, वे ऐसे आत्मा का पूर्ण आश्रय करके, पूर्ण निर्मलपर्याय प्रगट करके हुए हैं। शुद्धोपयोग द्वारा जिनस्वरूप भगवान आत्मा में रमणता करना, उसे जानना, अनुभव करना, इसे भगवान ने जिनशासन कहा है। यह जिनशासन पर्याय में है, द्रव्य में नहीं। यह पूर्ण जिनस्वरूप आत्मा को ग्रहण करनेवाला, शुद्धोपयोग ही जिनशासन है। परमेश्वर का मार्ग है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-259)*

स्याद्वाद का आशय

जिसने अबद्धस्पृष्ट आदि स्वरूप आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना। पर्यायदृष्टि में आत्मा को बद्धस्पृष्ट अन्य-अन्य अवस्थारूप, अनियत, भेदरूप और रागरूप देखता है, वह जैनशासन नहीं है, वह तो अजैनशासन है। यह सेठ लोग करोड़ों का दान करते है, कोई भक्ति-पूजा करते हैं, दया-व्रत पालन करते हैं, वह कोई जैनशासन अथवा जैनधर्म नहीं है। वीतराग की वाणी स्वाद्वादरूप है; इसलिए यदि कहीं राग को भी धर्म कहा है - ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि वीतरागता से धर्म और राग से भी धर्म हो - स्वाद्वाद का यह आशय नहीं है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-260)*

कुन्दकुन्दप्रभु की दिव्यदेशना

धर्म धुरन्धर, धर्म के स्तम्भ - ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव, जिनका

मङ्गलाचरण में तीसरा नाम आता है, वे जो कहते हैं, उसे एकबार पूर्वाग्रह छोड़कर सुन! कि अन्तर में एकरूप परमात्मतत्त्व सामान्यस्वभाव निर्लेप भगवान हैं, उसे जानना, उसकी प्रतीति और रमणता करना - ऐसा जो शुद्धोपयोग है, वह जैनशासन है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-260)*

सर्वज्ञस्वभाव का अनुभव ही जैनशासन

वीतरागी शुद्धात्मा का अनुसरण करके जो अनुभव होता है, वह अनुभूति मोक्षमार्ग है, उसने वस्तु को जान लिया है, फिर विकल्प आवे तो शास्त्र पढ़ता है परन्तु ऐसे जीव को शास्त्रपठन की कोई अटक नहीं है। भाई! ऐसा अद्भुत मार्ग है। अरे! भगवान का विरह पड़ा और सब लोग झगड़ों में पड़ गये हैं। कोई कहता है - शुभराग से धर्म होता है तो कोई शुभराग करते-करते धर्म होना मानता है, बहुत विपरीतता हो गयी है परन्तु क्या हो सकता है? सर्वज्ञता तो प्रगट हुई नहीं और सर्वज्ञस्वभाव का अनुभव है नहीं। यहाँ कहते हैं कि सर्वज्ञस्वभाव का अनुभव ही शुद्धोपयोग और जैनशासन है, जैनधर्म है। जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-260)*

व्यवहार अथवा राग, जैनशासन नहीं

जो यह अबद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, अर्थात् पाँच भावस्वरूप आत्मा को शुद्धोपयोग द्वारा देखता है, जानता है, अनुभव करता है, वह वास्तव में समस्त जिनशासन का अनुभव है - यह जैनमार्ग है, मोक्षमार्ग है। कोई कहे कि इसमें कहीं राग अथवा व्यवहार तो आया ही नहीं? उससे कहते हैं भाई! व्यवहार अथवा राग, जैनशासन ही नहीं है। जब तक पूर्ण वीतरागता

नहीं है, तब तक साधक को राग आता अवश्य है परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। जैनशासन तो शुद्धोपयोगमय वीतरागी परिणति है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयपरिणति, शुद्धोपयोगमय वीतरागी परिणति है – वही जैनधर्म है, जैनशासन है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में लिया है कि आत्मपदार्थ का वेदन–अनुभव–परिणति ही जैनशासन, अर्थात् जैनमत है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-261)*

जैनशासन : अनाकुल सुख का स्वाद

वस्तु, जो ज्ञायकस्वरूप है, उसे ज्ञान में लेकर अन्तर में ध्यान करते हैं, उसके मन के विकल्प–राग विश्राम पा जाते है, अर्थात् हट जाते है। जब मन शान्त हो जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद आता है। परिणाम अन्तरनिमग्न होने पर अनाकुल सुख का स्वाद आता है, उसे अनुभव, अर्थात् जैनशासन कहते हैं।

(प्रवचनरत्नाकर 1-263)

स्वज्ञेय में लीन परिणति ही जिनशासन

पाँच द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को, इन तीनों को इन्द्रिय गिना गया है। इन तीनों को जीतकर, अर्थात् इनकी ओर का झुकाव–रुचि छोड़कर, इनसे अधिक, अर्थात् भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव का – अतीन्द्रिय भगवान आत्मा का अनुभव है, वह जैनशासन है। अपने स्वज्ञेय में लीन है – ऐसी यह अनुभूति, अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परिणति ही जैनशासन है।

इससे विरुद्ध अज्ञानी को परिपूर्ण स्वज्ञेय की अरुचि है और इन्द्रियों का खण्ड–खण्डरूप जो ज्ञेयाकार ज्ञान है, उसकी रुचि और प्रीति है, वह परज्ञेयों में आसक्त है; इस कारण उसे ज्ञान का स्वाद

नहीं आकर, राग का, आकुलता का स्वाद आता है। राग का स्वाद, राग का वेदन अनुभव में आना, यह जैनशासन से विरुद्ध होने से अधर्म है। शुभक्रिया करना और वह करते–करते धर्म हो जाएगा – ऐसी मान्यता मिथ्याभाव है तथा शुभाशुभराग से भिन्न अन्तर आनन्दकन्द भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञायक के ज्ञान का वेदन करना, वह जिनशासन है, धर्म है। *(प्रवचनरत्नाकर 1-263)*

जिनधर्म जयवन्त वर्तता है

जैनधर्म किसे कहना? तो कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण, ज्ञान और आनन्द भरपूर अथवा वीतराग –स्वभाव से भरपुर प्रभु है, उसकी परिणति में अर्थात् पर्याय में वीतरागता की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति प्रगट होना, जैनधर्म है। मुनिराजों ने तो यहाँ तक कहा है कि वह जैनधर्म जयवन्त वर्तता है, अर्थात् यह ज्ञायक प्रभु, मेरा नाथ मुझे हाथ आया है, मुझे वीतरागी समकित, वीतरागी ज्ञान, वीतरागी रमणतारूप जैनधर्म जयवन्त वर्तता है और वह जैनधर्म प्रगट है। *(प्रवचनरत्नाकर 2-65)*

आत्मा की सेवा ही जैनधर्म

कोई कहता है – यह कैसी बात है? क्या जैन में भी ऐसी बात होती है? अपने जैन में तो कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि–भोजन नहीं करना, सामायिक करना, प्रतिक्रमण करना, प्रौषध करना, उपवास करना इत्यादि आता है। यहाँ कहते हैं कि यह जैनधर्म ही नहीं है, यह तो राग की / विकार की क्रियाएँ हैं। पर्याय को अन्तर्मुख करके एकाग्रता के बिना ज्ञान और आत्मा एकरूप है – ऐसी प्रतीति नहीं आती; इसलिए इसने आत्मा की, अर्थात् ज्ञान की सेवा ही नहीं की

है। दीन-दुखियों की, दरिद्रियों की मानव सेवा अथवा भगवान की सेवा करने की तो बात ही नहीं है। यहाँ तो भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से भरपूर है – ऐसा जिसने अन्तर्मुख होकर पर्याय में जाना, उसने आत्मा की सेवा की कहलाती है और वही जिनधर्म है – ऐसी बात है। *(प्रवचनरत्नाकर, 2/44)*

जैनदर्शन, अर्थात् वस्तुदर्शन

सम्यग्दृष्टि धर्मी को आत्मा का स्वाद रुचिकर है। रुचिकर, अर्थात् आनन्द का देनेवाला। रुचि-श्रद्धा-प्रतीति की व्याख्या यह है कि इसे प्रत्येक आत्मा के आनन्द का स्वाद आया वह रुचि, श्रद्धा, प्रतीति है – यही जैनधर्म है। देखो, जैनदर्शन तो वस्तुदर्शन है। सबको इकट्ठा करके विश्वधर्म... विश्वधर्म कहते हैं, परन्तु वह विश्वधर्म है ही नहीं। भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कथित एक ही मार्ग विश्वधर्म-जैनधर्म है। इसका दूसरे किसी धर्म के साथ मेल नहीं है। भाई! किसी को ठीक लगे या न लगे परन्तु वस्तु तो यह है।

(प्रवचनरत्नाकर, 2/78)

इन्द्रिय-विजेता ही जैन

केवली की वाणी में भी जिसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं आ सकता – ऐसी अमूल्य वस्तु आत्मा है, ऐसे आत्मा को स्वयंमेव अन्तर में अनुभव में आने पर असङ्गपने द्वारा इन्द्रिय के विषयों से भिन्न किया। जिसने पर से अधिकपने, अर्थात् भिन्नपने पूर्ण आत्मा को जाना, संचेतन किया और अनुभव किया, उसने इन्द्रियों के विषयों को जीता। जड़ इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और उसके विषयभूत पदार्थ – ये तीनों ज्ञान के परज्ञेय हैं। इन तीनों को जिसने जीता, अर्थात् जो इन

सबसे भिन्न हुआ, वह जिन हुआ, जैन हुआ। स्व-पर की एकता बुद्धि द्वारा वह अजैन था; अब, पर से भिन्न होकर निर्मलपर्याय प्रगट करके वह जितेन्द्रिय जिन है। *(प्रवचनरत्नाकर, 2/128)*

जैनदर्शन अर्थात् विश्वदर्शन

बापू, जैनदर्शन तो विश्वदर्शन है। विश्वदर्शन, अर्थात् छह द्रव्य स्वरूप जो विश्व है, उसे यथार्थ जाननेवाला और उसे बतलाकर पर से जीव की भिन्नता दिखानेवाला यह सत्य दर्शन है।

(प्रवचनरत्नाकर, 3/70)

वीतरागपरिणति ही जैनधर्म

अहो! श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने जैनधर्म का प्रवाह बहाया है। वे कहते हैं कि शुभभावरूप राग, जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म तो एक वीतरागभाव ही है; वीतरागीपरिणति ही जैनधर्म है परन्तु वीतरागीपरिणति के साथ धर्मी को जो शुभभाव का राग है, वह पुद्गल है क्योंकि वह पुद्गल के विपाकपूर्वक होता है। वस्तु, आत्मा तो स्वभाव से शुद्ध चैतन्यमय है। *(प्रवचनरत्नाकर, 3/90)*

अहो! अलौकिक जैनदर्शन

आत्मा तो वस्तुरूप से प्रसिद्ध / मौजूद है परन्तु पर्यायबुद्धि में वह अप्रसिद्ध / ढका हुआ है और इसलिए अज्ञानी को वह है ही नहीं। वर्तमान अंश और राग के प्रेम में अज्ञानी ने चैतन्यस्वभावी आत्मा को मरणतुल्य कर दिया है परन्तु अपनी परिणति द्वारा जब वह जानने में आता है, तब वह जीवती ज्योत प्रगट हुई है – ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है जैनदर्शन की! अहो! जैनदर्शन अलौकिक है!! जैनधर्म, अर्थात् क्या? जैनधर्म, अनुभूतिस्वरूप, अर्थात् वीतरागस्वरूप

है। अहा...हा! जैन उसे कहते हैं कि जिसने राग को जीता है और पर्याय में वीतरागता प्रगट की है – ऐसा जैनधर्म! परन्तु आया बनियों के हाथ, बनिये व्यापार में कुशल हैं, इसलिए बस व्यापार में ही पड़ गये हैं। बेचारों को समझने की फुर्सत नहीं है, इसलिए यह किया और वह किया; इस प्रकार बाहर की क्रियाएँ कीं परन्तु भाई! यह सब तो अज्ञान की होली है। *(प्रवचनरत्नाकर, 3/223)*

आत्मानन्द का भोगी ही जैन

आत्मा पर का कर्ता नहीं है और जो अपने को राग का कर्ता मानता है, वह भी वास्तव में जैन नहीं है। जो अपने को राग का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; जैन नहीं। धर्मी जैन तो आनन्द का कर्ता होकर आनन्द को भोगता है, अनुभव करता है। भाई! जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। कहा है न कि –

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
यही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म॥

भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप है, उसकी जहाँ दृष्टि और अनुभव हुआ तो वह ज्ञानी, राग का कर्ता नहीं होता; अपितु उसका जाननेवाला ज्ञाता रहता है और वह जैन है। *(प्रवचनरत्नाकर, 4/166)*

नामधारी जैन को भी रात्रि-भोजन नहीं

धर्मी को रात्रि-भोजन का त्याग होता है। जैन नाम धरानेवाले को भी रात्रि-भोजन आदि नहीं होता। रात्रि-भोजन करने में तीव्र लोलुपता का और त्रस-हिंसा का महादोष आता है; इसलिए जैन नामधारी को भी रात्रि का खानपान इत्यादि नहीं होता। आम के अचार इत्यादि जिसमें त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है – ऐसा

आहार भी जैन को नहीं हो सकता। यह सब व्यवहार के विकल्प हैं परन्तु यह धर्म नहीं है। *(प्रवचनरत्नाकर, 5/87)*

आत्मानुभूति ही जैनशासन

भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट है, उसे जाननेवाली पर्याय जैनशासन है। अबद्धस्पृष्ट आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली वीतरागी पर्याय ही जैनशासन है। उसे द्वादशाङ्ग और समस्त जैनशासन का ज्ञान हुआ है – ऐसा कहा है क्योंकि द्वादशाङ्ग में जो कहना चाहते हैं, वह इसमें जान लिया है। द्वादशाङ्ग का अभ्यास भले ही न हो परन्तु अबद्धस्पृष्ट की दृष्टि होने पर जो आत्मानुभूति प्रगट हुई, वही जैनशासन है। ऐसे जैनशासन की पर्याय चौथे गुणस्थान में प्रगट होती है।

(प्रवचनरत्नाकर, 5/96)

किसे कहते हैं जैन?

जैन तो उसे कहते हैं कि जो यह मानता है कि जड़ की अनन्त परमाणुओं की जो पर्याय जिस काल में जो होनेवाली हो, वह उससे होती है, मुझसे नहीं और जो रागादि-विकारी भाव होते हैं, वह भी मेरी वस्तु नहीं हैं; मैं तो एकमात्र ज्ञातादृष्टा हूँ। अहा हा! ऐसा जो अन्तरङ्ग में मानता है, वह जैन है; शेष सब अजैन हैं।

(प्रवचनरत्नाकर, 5/207)

यह तो नामधारी जैन को भी शोभा नहीं देता

इस लहसुन और प्याज के छोटे से टुकड़े में असंख्य शरीर हैं, प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं; उन्हें तेल में डालकर तलने से उन जीवों को होनेवाले दुःख का क्या कहना? यह सब कन्दमूल अनन्त काय अभक्ष्य हैं, जैन अथवा आर्य को ऐसा भोजन नहीं हो सकता, किन्तु अरे! इन्हें तलकर खाये! यह तो नामधारी जैन को भी शोभा

नहीं देता। भाई! स्वरूप को भूलकर तू भी इस प्रकार अनन्त बार तला गया है, अनन्त बार खाया गया है। भगवान्! तू अपने को भूल गया है। *(प्रवचनरत्नाकर, 5/340)*

अनुकम्पा के परिणाम भी जैनशासन नहीं

अहा हा! सदा मुक्तस्वरूप ऐसे भगवान आत्मा में अन्तर्दृष्टि करके उसका अनुभव करना ही जैनशासन है। राग का अनुभव, वह कहीं जैन शासन नहीं है। यहाँ तो वीतरागशासन लेना है न! इसलिए अरहन्त आदि के प्रति अनुराग और जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम भी शुभराग है, किन्तु वीतरागशासन नहीं।

(प्रवचनरत्नाकर, 6/22)

अनन्त तीर्थङ्करों द्वारा कथित सनातन सत्य

भाई! अनन्त तीर्थङ्कर, केवली, गणधर, सन्त और मुनिवर उपकार करके कह गये हैं कि अनादिकालीन यही मोक्ष का मार्ग है। – यही सनातन सत्य दिगम्बर दर्शन, अर्थात् जैनदर्शन है। भाई! दिगम्बर जैन कोई वेष अथवा वाड़ा नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है। अहा हा! बाहर से शरीर पर वस्त्र का धागा तो नहीं रखे किन्तु अन्तर में सूक्ष्मविकल्प की वृत्ति अपनी है, भली है – ऐसा माने तो वह दिगम्बर साधु नहीं है – ऐसी बात है। अहो! दिगम्बरत्व, यह कोई अदभुत आलौकिक वस्तु है। वीतरागता कहो या दिगम्बरत्व कहो, दोनों एक ही है। *(प्रवचनरत्नाकर, 6/101)*

व्यवहार से भी जैन कौन?

बहुत गम्भीर बात है प्रभु! भगवान जैन परमेश्वर तो व्यवहार से भी जैन उसे कहते हैं कि जिसे वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और उनके

द्वारा प्ररूपित धर्म भी वीतरागी ही होता है – ऐसा वास्तविक श्रद्धान है। अन्तरङ्ग जैनपना तो कोई अलौकिक चीज है भाई! यह कोई साम्प्रदायिक चीज नहीं है। समझ में आया।

(प्रवचनरत्नाकर, 6/117)

भगवान त्रिलोकनाथ की वाणी का मर्म

भगवान त्रिलोकीनाथ की वाणी का यह मर्म है कि रागादि भी अन्य कर्म है, आत्मा नहीं। भाई! जैनशासन कोई बाड़ा नहीं है, वस्तु का स्वरूप है। भगवान! तू मुक्तस्वरूप है और जो शुद्धोपयोग में आत्मा मुक्तस्वरूप ज्ञात हुआ, वह शुद्धोपयोग ही जैनशासन है।

(प्रवचनरत्नाकर, 6/265)

काग बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग

अहा! सम्यग्दृष्टि धर्मी अभी प्रथम श्रेणी का जैन है। जिसने अपने जैन परमेश्वर प्रभु आत्मा को अन्दर में देखा है और इन्द्र का इन्द्रासन तथा चक्रवर्ती की सम्पदा को कौए की बीट समान तुच्छ मानता है, वह इनकी इच्छा से विरक्त हो गया है। अहा! यह सम्यग्दर्शन है बापू! अपनी निज सम्पदा, स्वरूप सम्पदा के समक्ष इन्द्र के भोगादि सब आपदा है, दुःख है – ऐसा उसे भासित होता है। इन्द्रासन का सुख भी दुःख है भाई! तो धर्मी दुःख की भावना क्यों करेगा? अहा! ऐसा जैनपना प्रगट होना कोई अपूर्व वस्तु है बापू! लोग तो साधारणरूप से यह मान लेते हैं कि हम जैन हैं परन्तु बापू! जैनपना तो स्वरूप के आश्रय से जो पर की वाँछा जीत लेता है, उसे है।

(प्रवचनरत्नाकर, 7/492)

वीतरागी सन्तों की मङ्गल वाणी

कोई पण्डित यह कहता है कि आत्मा पर का नहीं कर्ता है या

नहीं कर सकता है – ऐसा माननेवाला दिगम्बर जैन नहीं है।

अरे भगवान! तू क्या कहता है यह ? महान दिगम्बर आचार्य भगवान कुन्दकुन्दादि तो यह कहते हैं कि मैं पर की क्रिया कर सकता हूँ, जिसे ऐसा अध्यवसाय है, वह मिथ्यादृष्टि है और ऐसे अध्यवसाय से जो रहित है, वही जैन है, समकिती है। भाई, तेरी बात में बहुत अन्तर है बापू! जरा गहराई में जाकर संशोधन कर।

(प्रवचनरत्नाकर, 8/183)

भेदज्ञान के बिना जैनत्व नहीं

ये बनिया लोग मानते हैं कि हम जैन हैं परन्तु उन्हें पता ही नहीं है कि जैन क्या है ? बापू! भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान के बिना कहीं जैनपना नहीं होता। जो भेदज्ञान के द्वारा समकित प्रगट करता है, वह जैन है। भाई! जैसे थैली में चिरायता भरा हो तो ऊपर नाम शक्कर लिख देने से अन्दर शक्कर नहीं हो जाती; इसी प्रकार जैन नाम रखकर अन्दर सम्यक्त्व के बिना किसी को भी जैनपना नहीं हो जाता।

(प्रवचनरत्नाकर, 8/430)

निरपराधदशा ही जैनधर्म

आत्मवस्तु सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु शुद्ध चिदानन्द कन्द है, उसमें पर के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप के भाव और दया-दानादि पुण्य के भाव – ये सब परद्रव्य हैं, परभाव हैं। इन समस्त परभावों की दृष्टि छोड़कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, अर्थात् शुद्ध आत्मा में ही दृष्टि लगाना, उसे ही ज्ञान का ज्ञेय बनाना और उसमें ही लीनता करना; तभी निरपराधता होती है, जिसका नाम जैनधर्म है। *(प्रवचनरत्नाकर, 8/477)*

निर्मल रत्नत्रय ही जैनधर्म की सेवा

जैनधर्म की सेवा अर्थात् क्या ? अहाहा....! शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय के परिणाम प्रगट करे, एक शुद्धोपयोगरूप परिणमे, वही जैनधर्म की सेवा है। अन्य दया दान और बाहर की प्रभावना के कार्यों में ही रुका रहे, वह कहीं जैनधर्म की सेवा नहीं है। *(प्रवचनरत्नाकर, 9/29)*

राग का अकर्तापना ही जैनधर्म

भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट हो, वह तो महा अलौकिक वस्तु है परन्तु लोगों ने इसे क्रियाकाण्ड में कैद कर दिया है। जैसे, कोई चिरायते की थैली पर शक्कर नाम लिख दे; उसी प्रकार सामायिक, प्रौषध और व्रत आदि राग की क्रियाओं में लोग धर्म मानने लगे हैं और अपने को जैन श्रावक तथा जैन साधु मानते हैं परन्तु बापू! जहाँ राग का कर्तृत्व खड़ा है, वहाँ श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म तो क्या; समकित होना भी सम्भव नहीं है। राग मेरा कर्तव्य है – ऐसा जिसने माना है, वह तो अज्ञानी कर्ता हुआ है, वह कहाँ जैन हुआ है। यह कर्तापना मिटे बिना जैनपना प्रगट ही नहीं होता।

(प्रवचनरत्नाकर, 9/270)

स्वरूप में एकत्व से ही जैनत्व का प्रारम्भ

आत्मा शुद्ध चैतन्यमय सदा परमस्वरूप प्रभु है। उसकी दृष्टि करनेवाला सम्यग्दृष्टि जैन है, किन्तु दया, दान आदि के राग से – पुण्य से धर्म माननेवाला जैन नहीं, अपितु अजैन है। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है भाई! शरीर और राग का क्रियाकाण्ड, वह जैनपना

नहीं है बापू! इनकी एकताबुद्धि टूट जाए और स्व-स्वरूप की / परमस्वरूप की एकता हो जाए, वहीं से जैनत्व प्रारम्भ होता है।

(प्रवचनरत्नाकर, 10/302)

यह जैनशासन का रहस्य है

कोई लौकिकजन व अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक शुभक्रियाओं में तथा व्रतसहित होना, वह जैनधर्म है – परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिन भगवान ने यह कहा है कि पूजादिक में तथा व्रतसहित होना तो पुण्य है। इसमें पूजा तथा आदि शब्द से भक्ति, वन्दना, वैयावृत्त्य आदि समझना। इनका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है, वह जैनधर्म नहीं है। देखो, यह जैनशासन का रहस्य है।

(प्रवचनरत्नाकर, 11/230)

धर्मधारा के सहज प्रहरी

अहो! पञ्चम काल के मुनियों ने भी धर्म की धारा को खण्डित नहीं होने दिया है। सर्वज्ञ केवली भगवन्तों के भावों को ज्यों का त्यों टिका रखा है। मुनिराज तो धर्म के स्तम्भ हैं, उन्होंने मोक्षमार्ग को टिका रखा है। स्वयं स्वभाव की और राग की भिन्नता का अनुभव करके जगत् को भी वह भिन्नता दिखलाते हैं। *(– आत्मभावना, पृष्ठ 292)*

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल,

खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।